व्याख्यानमाला

लेखक—

शरच्चन्द्र चट्टोपाध्याय

मूल्य—एक रुपया आठ आना

प्रथम संस्करण
जुलाई '५६

मुद्रक—
राष्ट्रभाषा मुद्रणालय,
लहरतारा, बनारस—४

तरुण-विद्रोह

मित्रो !

अपना जीवन जब समाप्ति की तरफ आ पहुँचा तो देश की इस यौवन-शक्ति को सम्बोधित कर इसे यात्रा पथ का निर्देश करने के निमित्त मेरा आह्वान हुआ। जिस समय अपने भीतर कर्मशक्ति प्रायः समाप्त हो चली, उद्यम क्लान्त हो गया, प्रेरणाएँ क्षीण हो चुकीं, तभी तरुणों की अपरिमित जीवन-धारा के दिग्-निर्णय का भार मुझ जैसे एक वृद्ध के ऊपर आ पड़ा। इस आह्वान से हृदय में केवल वेदना का संचार होता है। स्मरण होता है, किसी दिन मेरे पास भी ये सभी थे—यौवन, शक्ति, स्वास्थ्य, सबके ही कामों में अपने आपको मिला देने का आनन्द बोध—इस युवक-संघ के प्रत्येक लड़के की ही तरह—किन्तु यह तो बहुत दिनों की पुरानी बात है। उस दिन जीवन-ग्रन्थ के जिन अध्यायों को उदासीनता और अवहेलना से मैंने नहीं पढ़ा, इस प्रत्यासन्न परीक्षा के काल में उसकी निष्फलता की सान्त्वना, आज किसी तरफ दृष्टि निक्षेप करने से भी मुझे दिखाई नहीं पड़ती। मैं जानता हूँ, इस तरुण-संघ को जोरदार शब्दों में कहने योग्य कोई भी सञ्चय मेरे पास अब नहीं है। उनको पथ-निर्देश करने का गुरुतर दायित्व वहन करना मुझे शोभा नहीं देता। यह कल्पना भी मैं नहीं करता। मैं केवल थोड़ी

सी बहुपरिचित पुरानी बातों का तुमलोगों को स्मरण करा देने के लिए यहाँ उपस्थित हुआ हूँ।

मेरा पेशा साहित्य है। यह उल्लेख करना भी यहाँ आवश्यक है कि, राजनीति-चर्चा सम्भवतः मेरे लिए अनधिकार चर्चा ही मानी जायगी। और भी एक बात पहले ही बता देने की जरूरत है, वह है मेरी रचनाओं के सम्बन्ध में। जो लोग मेरी पुस्तकों से परिचित हैं, वे जानते हैं कि मैंने कभी, किसी भी बहाने अपना व्यक्तिगत विचार बलपूर्वक कहीं भी ठूँस देने की चेष्टा नहीं की। चाहे पारिवारिक, चाहे सामाजिक, अथवा व्यक्ति विशेष की जीवन-समस्या हो, प्रत्येक में मैं केवल वेदना का विवरण, दुख मूलक कहानी, अविचारों की मर्मान्तिक ज्वाला का इतिहास, अभिज्ञता के पन्ने के ऊपर पन्ने को, कल्पना की कलम के द्वारा लिपिबद्ध करता चला गया हूँ—यही मेरी साहित्य-रचना की सीमा रेखा है। अपनी जानकारी में मैंने अपने को कहीं भी इस सीमा को अतिक्रमण करने नहीं दिया। इसी कारण मेरी रचनाओं में समस्या है, समाधान नहीं प्रश्न है, उसका उत्तर ढूँढ़ने से नहीं मिलता; क्योंकि, मेरा चिरकाल से यही विश्वास है कि, समाधान का दायित्व कार्य करने वाले पर है, साहित्यिक पर नहीं। कहाँ कौन अच्छा है, कौन बुरा है, वर्तमान काल में कौन परिवर्तन उपयोगी है, और किसकी आवश्यकता आज भी नहीं है, इस विवेचना का भार संस्कारकों के ऊपर रखकर ही मैंने निश्चिन्त मन से विदाई ले ली है। आज की इस रचना की थोड़ी सी पंक्तियों में भी मैंने अन्यथा नहीं की है। यहाँ भी वही समस्या है, उसका समाधान नहीं। क्योंकि समाधान का भार बंगाल के तरुण-संघ पर है—मुझ जैसे वृद्ध पर नहीं।

एक और विषय है जिसका स्पष्टीकरण सर्वप्रथम हो जाना अपेक्षणीय है। यह तरुण-सङ्घ राष्ट्रीय सभा के साथ अंशतः

संलग्न है, इस सत्य को छिपा रखने से कोई लाभ नहीं। यह उसका कर्तव्य है। तो भी दो चार दिनों के बाद ही इस शहर में बङ्गदेश के राष्ट्रीय सम्मेलन का कार्य आरम्भ हो जायगा। इसलिए दोनों संस्थाओं का उद्देश्य जब बहुत अंशों में एक है, तब पृथक् रूप से तरुण सङ्घ की आवश्यकता ही क्या थी? कोई कोई कहते हैं कि इसकी आवश्यकता इसलिए है कि तरुण सङ्घ में बहुत से छात्र हैं और छात्रों के अतिरिक्त ऐसे भी बहुत से लोग हैं जो प्रकट रूप से राष्ट्रीय आन्दोलन में भाग नहीं ले सकते। बहुत प्रकार के विघ्न हैं और बहुत प्रकार के निषेध भी हैं, उनसे बचने के लिए आवरण की आवश्यकता है। किन्तु आवरण के द्वारा—कौशल और छल के भरोसे, किसी दिन वास्तविक सिद्धि प्राप्त नहीं होती। काम भी करना चाहिये, और ऊपर के लोगों की आँखों में धूल भी डालनी चाहिये—ये दो प्रकार की इच्छाएँ एक साथ ही पूरी नहीं हो सकतीं। इस कारण युवक-सङ्घ को स्पष्ट रूप से अपना प्रकृत उद्देश्य देश के सामने व्यक्त कर देना होगा। डरते रहने से काम न चलेगा। किन्तु जो लोग यह नहीं कर सकते, उनसे यह काम भी न होगा—यह भी निष्फल हो जायगा। किन्तु असल में यह बात नहीं है। इन दोनों संस्थाओं के बाहरी चेहरे में शायद बहुत समता है। किन्तु भीतरी तौर से देखने से मालूम हो जायगा कि दोनों में प्रभेद भी असीम है। कांग्रेस बहुत दिनों की पुरानी संस्था है, मेरी ही तरह यह भी वृद्ध हो चुकी है। किन्तु यह युवक-सङ्घ अभी कुछ ही दिनों का है—उसकी शिराओं का रक्त अभी गरम है, निर्मल है। कांग्रेस देश के मस्तिष्क-शक्तिधारी, कानून के जानकार और राजनीति विशारद जनों का आश्रय-केन्द्र है, किन्तु युवक-सङ्घ केवल प्राणों के ऐकान्तिक आवेग और आग्रह

से निर्मित है। इनमें से एक का सञ्चालन कूटनीति मूलक बुद्धि करती है, किन्तु दूसरे को नियोजित करता है जोवन का स्वाभाविक धर्म।—इसीलिए विविध उत्तेजनाओं के बाद जब मद्रास में देश की सर्वाङ्गीन स्वाधीनता का प्रस्ताव पास हुआ, तो वह बात अधिक दिनों तक टिकी न रह सकी। एक वर्ष का भी समय नहीं बीता कि कलकत्ते की कांग्रेस में वह मत रद्द कर दिया गया। स्वाधीनता के बदले लोगों ने Dominion Status की माँग रक्खी। किन्तु देश के युवक दल ने उस निर्धारण पर ध्यान नहीं दिया। दोनों संस्थाओं में अन्तर यही है। पुरातन के विधि-निषेधों के विघ्नजाल से उसका प्राण हाँफने लगता है, युवक-समिति के जन्म-इतिहास का हेतु यही है। न केवल भारतवर्ष में ही, बल्कि संसार के जिस तरफ ही नजर उठाकर देखें तो उसी तरफ मानो इसके नव अभ्युदय की रक्त-राग-रेखा दिखाई पड़ती है। केवल राजनीति के क्षेत्र में ही नहीं, बल्कि समाजनीति, अर्थनीति आदि सब प्रकार की नीतियों के सम्बन्ध में ही तरुण शक्ति ने मानो नव चेतना प्राप्त कर ली है। उनके अतिरिक्त और किसी के द्वारा किसी प्रकार भी जगत् की वर्तमान दुर्भेद्य समस्या की मीमांसा न होगी, इस सत्य का अनुभव इन लोगों ने असन्दिग्ध रूप से कर लिया है। यह बहुत बड़ी आशा की बात है। पुरातन पंथी लोग उनका जब तब तिरस्कार करके कहते हैं—तुम लोग अभी कितने दिन के हो ही? तुम लोगों की विज्ञता ही अभी कितनी है?

युवक समाज भी इस अभियोग का उत्तर देने से मुँह नहीं मोड़ता। किन्तु मेरा विचार यह है कि, तरह-तरह के तर्क-वितर्कों के बीच लोग स्पष्ट रूप से यह बात क्यों नहीं कह देते कि, पुरातन की अभिज्ञता के विरुद्ध ही उनकी सबसे बड़ी लड़ाई है? बहुत

यत्न के साथ जो अभिज्ञता विशेष रूप से उन्होंने उपार्जित की है, उस अभिज्ञता के ज्ञान को ही पूर्ण रूप से जाग्रत करके वे जगत् को मुक्ति दिलाना चाहते हैं। किन्तु यह एक ऐसा विषय है जिसके सम्बन्ध में विचार करते समय तुम लोग मुझे कहीं गलत न समझ बैठना। हमारी यह कांग्रेस एक राष्ट्रीय संस्था है। वस्तुतः हमारे देश में एक मात्र यही एक ऐसी संस्था है—जिसने विदेशियों के राजशासन के अविचारों और अनाचारों को मुँह बन्द करके स्वीकार नहीं किया है। उसके द्वारा बहुत दिनों से चलाये गये वाद प्रतिवादों और अनुयोग-अभियोगों का सम्मिलित कोलाहल राजशक्ति के वधिर कर्णों में प्रवेश नहीं कर सका, यह भी सच है, किन्तु उन परिस्थितियों में इसके अतिरिक्त दूसरा और क्या उपाय ही था? इसी प्रकार दिन बीतते जा रहे थे। अकस्मात् एक दिन महात्मा जी का सविनय अवज्ञा आन्दोलन प्रारम्भ हो गया और उसकी शिखा उनकी खादी-चरखे की डोरी में बँधी रही। स्वराज की तारीख ३१ दिसम्बर निर्धारित हुई। उसी वक्त जेल जाने का भी दिन आ गया और आत्म-त्याग की बाढ़ सी आ गयी। बङ्गाल के बाहर से पुकार हुयी। फिर भी जितने चरखे, जितनी खादी उन दिनों बङ्गाल में तैयार हुईं, जितने लोग बङ्गाल के कारागार में गये, जितने लड़कों ने जीवन का सर्वस्व बलिदान दिया, समग्र भारतवर्ष में उसकी समता कहाँ रही? ऐसा क्यों हुआ? क्या इसका कारण जानते हो? इसका कारण यह है—बङ्गाल के लड़के अपने देश को जितना प्यार करते हैं, शायद पञ्जाब के सिवा उसका एकांश भी भारत में कहीं ढूँढने से न मिलेगा। इसीलिए 'वन्दे मातरम्' मन्त्र की सृष्टि इसी बङ्गदेश में हुई। इसी बङ्गाल में पुण्य श्लोक स्वर्गीय देश बन्धु ने जन्म लिया। इधर ३१ दिसम्बर की तिथि बीत गयी—स्वराज नहीं आया। कहीं किसी अनजान गाँव में—चौरी चौरा में—एक-

पात हुआ। महात्मा जी ने डर कर आन्दोलन स्थगित कर दिया। देश की समस्त आशा-आकांक्षाएँ आकाश कुसुम की तरह एक ही क्षण में शून्य में विलीन हो गयी। किन्तु उन दिनों एक ऐसे व्यक्ति जीवित थे जिनका भय के साथ कोई परिचय नहीं था—वे थे देशबन्धु। वे उस समय जेल में थे। बङ्गाल के बाहर-भीतर के सभी लोगों ने मिलकर उनकी समस्त चेष्टाओं को, उनके सभी आयोजनों को निष्फल कर दिया। कौन जाने, सम्भवतः भारत का भाग्य इतने दिनों में एक दूसरे ही मार्ग से प्रवाहित हो सकता था, किन्तु छोड़िये इस बात को।

कुछ दिनों तक सन्नाटा छाया रहा। फिर एक बार हलचल शुरू हो गयी है। उस बार जालियान वाला बाग था, इस बार आ गया है साइमन कमीशन, फिर वही चरखा, वही खादी, वही बहिष्कार का अहेतुक गर्जन, वही ताड़ी की दूकान पर धरना देने का प्रस्ताव, वही ३१ दिसम्बर, और सर्वोपरि बङ्गाल के बाहर के नेताओं के दल फिर बङ्गाल के कंधे पर सवार हो चुके हैं। मैं जानता हूँ इस बार भी वह ३१ दिसम्बर ठीक उसी प्रकार बीत जायगा, जैसे कि पहले बीत चुका है। केवल क्षीण आशा का कुछ प्रकाश है बङ्गाल की इस यौवन शक्ति के जागरण में। बङ्ग भङ्ग सेटल्ड फैक्ट (Settlled fact) एक दिन अनसेटल्ड (Unsettled) हो गया था—इसी बङ्ग देश में। उन दिनों बाहर से कोई भी भार ढोने के लिए नहीं आया था। उस आन्दोलन को चलाने का परामर्श देने के लिए बाहर से नेताओं को बुलाने की जरूरत नहीं पड़ी थी, बङ्गाल का सारा दायित्व उन दिनों बंगाल के नेताओं के हाथ में था।

प्रत्येक देश का स्वभाव, उसकी प्रवृत्ति, रीति-नीति, चाल-चलन विभिन्न प्रकार की होती है। इस विभिन्नता को केवल उसके

देश के लोग ही जानते हैं। इस जानकारी के ऊपर कितनी बड़ी सफलता निर्भर करती है, बहुत से लोग इस विषय में कुछ विचार ही नहीं करते। अन्त में यही अज्ञता जब एक दिन विफलता के गढ़े में ले जाकर हमें फेंक देती है तब देशवासियों के मत्थे दोष मढ़कर बाहर के लोग सान्त्वना प्राप्त करते हैं। वे सोचते हैं समस्त देश की कार्य तालिका के सर्वांश में एक हो जाने का ही नाम शायद एकता है। विभिन्न कार्य-पद्धतियों में भी यथार्थ ऐक्य निहित रह सकता है, यह सत्य कभी स्वीकृत नहीं होता। इसीलिए गड़बड़ी उपस्थित होती है। इसीलिए देश के लोगों के ही हाथ में उसके अपने देश के कार्यों की धारा निरूपित होने की आवश्यकता है। साइमन साहब के दल को भी ठीक यही भूल हुई थी। उनलोगों ने एक देश से आकर दूसरे देश का Constitution तैयार करने की स्पर्धा प्रकट की थी—आज बङ्गाल की युवक समिति से मेरा हार्दिक अनुरोध है कि इस सम्पूर्ण विषय पर अच्छी तरह विचार करे।

मेरा वक्तव्य नीरस है, बहुतों के कानों को शायद कर्णकटु प्रतीत होता हो। शब्दों के आडम्बरों की घटा से, वचन-विन्यास के कौशल से, उत्तेजना उत्पन्न करने में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। किन्तु तुम लोग तो जानते हो, सीधी बात—सीधे तौर से कहना ही मेरा स्वभाव है। किसी के विरुद्ध कुछ कठोर अभियोग करने में भी मेरी रुचि नहीं है। इसीलिए मेरी बातों में उतना स्वाद नहीं है—इसका अनुभव मैं स्वयं भी करता हूँ। किन्तु आशा यही है कि राष्ट्रीय सम्मेलन आसन्न प्राय है। नेता लोगों में से बहुत से आ गये हैं, जो लोग बाकी हैं, वे भी आ ही जायँगे, अब देर नहीं है।

भाषण सुनकर तुमलोगों की भूख मिटेगी। अँग्रेजी राज के डेढ़ सौ वर्षों का इतिहास उनको कण्ठस्थ है। अंग्रेजों, तुमने यह किया

यह किया—वह किया, यह नहीं किया—वह नहीं किया—यह नहीं किया—अमुक को लाठी से पीटकर खून किया—अमुक को बिना विचारे नजरबन्द कर रक्खा है, चाय बगान के अमुक अपराधी साहब को तुमने निर्दोष छोड़ दिया है—इसलिए तुम्हारा राज्य शैतान का है। ऐसे ही अत्याचारों की धारावाहिक फिहरिश्त देकर जगत् के सामने असन्दिग्ध रूप से प्रमाणित करना पड़ता है कि अंग्रेज शासन-प्रणाली बहुत ही खराब है और उसके जुल्म हमलोग अब नहीं सह सकते। इसलिए या तो आईन-कानून बदल दिये जाँय अथवा इस हूकुमत के साथ हमलोग अब कोई वास्ता न रक्खें। इन सब की आवश्यकता नहीं है, यह मैं नहीं कहता, वरन् मैं समझता हूँ इन बातों की अधिक से अधिक आवश्यकता है। किन्तु आवश्यकता जितनी ही क्यों न रहे—यही दोनों संस्थाओं के मनस्तत्व का गहरा व्यवधान है क्योंकि यह तो शैतान का राज्य है ही—इसे प्रमाणित करने का भार युवक-समिति पर नहीं है। उनसे पूछने से वे यही उत्तर देंगे कि विदेशियों की शासन-प्रणाली जैसी होती है, यह भी वैसी ही है। कांग्रेस के सम्मिलित धिक्कार से लज्जित होकर वे लोग भाविष्य के भारतवर्ष में स्वराज की स्थापना करेंगे या नहीं, इसे वे ही लोग जानते हैं, किन्तु हमलोग इतना जानते हैं कि उसके साथ अब हमारा सम्बन्ध सम्भव नहीं है। देश की यौवन शक्ति किसी भी दिन स्वाधीनता के बदले पराधीन स्वर्ग राज्य की प्रार्थना न करेगी।

किन्तु नाम मात्र की स्वाधीनता से समस्या हल होने की नहीं। स्वाधीनता भीख मागने से तो मिलती नहीं। इसका मूल्य चुकाना पड़ता है। किन्तु कहाँ है मूल्य ? किसके पास है ? वह केवल यौवन के रक्त में संचित है। उसका मूल्य चुकायेंगे नोजवान। असीम यौवन का बाँध टूटेगा। किसी तरह भी अब विलम्ब नहीं किया

जा सकता। क्या मनुष्य के जीवन में क्या देश के जीवन में, जीवन-मृत्यु का सन्धि क्षण जब शून्य दिगन्त से धीरे-धीरे नीचे उतरता रहता है, तब कुछ न जान कर भी मानो जान लिया जाता है कि सर्वनाश अत्यन्त निकट आ खड़ा हुआ है। छोटे से गाँव के अति क्षुद्र स्त्री-पुरुष के चेहरे पर भी मैं उसका आभास देख पाता हूँ। चारों तरफ असहनीय अभाव के बीच किस तरह वे लोग असन्दिग्ध रूप से यह समझ चुके हैं—कि इस देश में रहने से उन्हें अब निष्कृति नहीं है, दुर्निवार मृत्यु ग्रास करने ही वाली है।

नवयुवको! इनको बचाने का भार तुमलोगों पर है। तुमलोग क्या यह भार न सम्भालोगे? संसार के चारों तरफ नजर उठाकर देखो—इस तरह के बोझ कौन से लोग ढोते रहे हैं? तुम ही लोग तो हो। क्या केवल इसी देश में इसका व्यतिक्रम होगा? शान्ति-स्वस्ति-विहीन सम्मान वर्जित प्राण क्या भारत के ही युवकों के लिए इतनी बड़ी मोहक वस्तु है? क्या देश को बूढ़े लोग बचाते हैं? इतिहास पढ़ो और समझो। तरुण शक्ति केवल अपने प्राणदान देकर देश-देश में समय-समय पर ध्वंस के पंजे से अपनी जन्मभूमि को बचाती आयी है। इस बात को जानते हुए भी यदि तुम लोग भूल करते हो, तो फिर इस समिति के संगठित करने की रंचमात्र भी जरूरत नहीं थी।

भारतीय आकाश में आजकल केवल एक ही शब्द गूँज रहा है—और वह है विप्लव। इसीलिए वैदेशिक राजशक्ति अब तुमलोगों से डरने लगी है। किन्तु एक बात तुम भूल मत जाना कि, कभी किसी भी देश में केवल विप्लव के ही लिए विप्लव नहीं किया जाता। अर्थहीन अकारण विप्लव की चेष्टा से केवल रक्तपात ही होता है, और कुछ हासिल नहीं होता। विप्लव की उत्पत्ति मनुष्य के मन में होती है, अकारण रक्तपात में नहीं। इसीलिए धैर्य धारण कर

उसकी प्रतीक्षा करनी पड़ती है। क्षमाहीन समाज, प्रीतिहीन धर्म, जातिगत घृणा, अर्थनैतिक विषमता, स्त्रियों के प्रति चित्तहीन कठोरता, इनके आमूल प्रतिकार के विप्लवी मार्ग से ही केवल राजनैतिक विप्लव सम्भव हो सकता है। नहीं तो असहिष्णु अभिलाषा और कल्पना की अतिशयता से तुमलोगों को व्यर्थता के सिवा और कुछ भी प्राप्त न होगा। स्वाधीनता के संग्राम में विप्लव ही अपरिहार्य पंथ नहीं है। जो लोग यह समझते हैं कि संसार में और सभी कामों में आयोजन की आवश्यकता पड़ती है—केवल विप्लव के लिए किसी तरह की तैयारी नहीं चाहिये—इसको शुरू कर देना चाहिये; शुरू कर देने से ही यह चलने लगेगा, किन्तु ऐसा समझने वाले और जितनी भी बातें चाहे क्यों न जानते हों, किन्तु विप्लव तत्त्व की कोई भी खबर उनको नहीं है। जो लोग मन ही मन विप्लव पंथी हैं, वे शायद मेरी बातों से खुश न होंगे। किन्तु मैं तो प्रारम्भ में ही कह चुका हूँ कि किसी को खुश करने के लिए मैं यहाँ नहीं आया हूँ। मैं आया हूँ सच्ची बात सीधे शब्दों में कह देने के लिए।

हम कितने ही रूपों में निरुपाय हो चुके हैं। बहुतों का कहना है कि विदेशी राजशक्ति ने हमारे अस्त्र-शस्त्र छीन कर हमें एकदम पंगु बना दिया है। यह अभियोग झूठ है, यह मैं नहीं कहता, किन्तु क्या यही सम्पूर्ण सत्य है? अस्त्र-शस्त्र हमारे पास आज नहीं हैं, किन्तु एक हजार वर्षों से हम क्या कर रहे थे? तब तो Arms Act जारी नहीं हुआ था। सबसे अधिक निरुपाय बना दिया है हमको—हमारे निरवच्छिन्न आत्म कलह ने। इसीलिए बार-बार मुगल पठान तथा अंग्रेजों के पैरों के नीचे हमारे मस्तक झुकवाये गये। संसार की सभी शक्तिशाली जातियों के इतिहास के अध्ययन करने से पता चलता है कि भले ही थोड़ी बहुत आत्म कलह उनमें रही हो,

किन्तु बाहरी शत्रु के सामने उस कलह को वे लोग समाप्त भी करना जानते थे। जब तक शत्रु को पूर्ण रूप से परास्त नहीं कर लेते थे, तब तक वे घरेलू झगड़े में लिप्त नहीं होते थे। यही उनका सबसे बड़ा बल है। किन्तु हमारा क्या हाल है? जयचन्द, पृथ्वीराज से शुरू करके सिराजुद्दौला और मीरजाफर तक में यह मज्जागत अभि-शाप दूर नहीं हुआ। मुसलमान बङ्गदेश को जीतने के लिए आये थे। तब इस देश के जितने भी ब्राह्म-बौद्ध लोग थे, सब ही प्रसन्न होकर अपने धर्म देवता का यशगान करते हुए "धर्म मंगल" की रचना की और उसमें यह लिख डाला—

"धर्मा हइला यवन रूपी
माथाय दिला कालो टूपी
धर्म्मेर शत्रु करिते विनाश।"

"धर्म ने यवन रूप धारण करके धर्म्म के शत्रुओं का विनाश करने के लिए माथे पर काली टोपी पहन ली है।"

अर्थात् विदेशी मुसलमान आकर हिन्दू धर्मावलम्बी पड़ोसी बङ्गाली भाइयों को दुःख देने लगे, इसी से वे लोग परम आनन्द से परिपूर्ण हो उठे। अभी उसी दिन की बात है—आपस में लड़ाई करने में ही इतने महान पुरुष चित्तरञ्जन की समस्त आयु समाप्त हो गयी। आज भी क्या यह आपसी लड़ाई-झगड़ा खतम नहीं किया जायगा? यह जो युवक-सङ्घ है, पता लगाने से जान पड़ेगा कि इसके अन्तर्गत भी तरह-तरह के दल विद्यमान हैं। किसी के साथ किसी का मेल नहीं है—इसमें कितने प्रकार के मतभेद हैं, कितने प्रकार के मान-अभिमान के कारण मनोमालिन्य है—कमल के पत्ते पर ठहरने वाले जल बिन्दु की तरह अस्थिर है, कब लुढ़क कर पृथक् हो जाँय इसका कोई ठिकाना नहीं। बाहर से आकर भीड़ लगा देने का ही नाम क्या Organisation है?

Organic देह वस्तु की तरह इसके पैरों के नखों पर चोट लगाने से ही क्या सिर के बाल सिहर उठते हैं ?

सोचता हूँ, वही तो है सनातन संस्कार ! शत्रु आकर सदर दरवाजे पर ऊधम मचा रहा है, तो भी दलबन्दी न मिट सकी ! फिर भी इन्हीं लोगों पर देश की सारी आशाएँ निर्भर करती हैं ! किस दिन इसकी मीमांसा होगी, इसे जगदीश्वर ही जानें !

प्राचीन काल में दिग्विजय का गौरव अर्जन करने के लिए प्रधानतः राजा लोग राज्य जीतने के लिए निकल पड़ते थे, किन्तु अब वह दिन नहीं रहा, ज़माना बदल चुका है। अब राजा नहीं है, अब है राजशक्ति, और वह शक्ति है कुछ थोड़े से व्यवसायियों के हाथ में। या तो सारे काम अपने ही हाथ से करते हैं, या लोगों को नियुक्त करके कराते हैं। वणिक् वृत्ति ही अब मुख्यतः राजनीति है। शोषण के ही लिए शासन है, नहीं तो इसकी विशेष कोई आवश्यकता नहीं है। दस-पन्द्रह वर्ष पहले जो जगत व्यापी संग्राम हो चुका है, उसकी बुनियाद में वही एक बात थी—वही बाजार और खद्दर को लेकर दूकानदारों की छीना-झपटी होने लगी। विविध अपमानों से उन्मत्त होकर कांग्रेस ने ब्रिटिश व्यापारिक वस्तुओं के बहिष्कार का संकल्प ग्रहण किया है। कांग्रेसजनों के इस संकल्प को सिद्धि प्राप्त हो। बङ्गाल के युवको ! इस संघर्ष में तुमलोग कांग्रेसजनों की सर्वान्तःकरण से सहायता करो। किन्तु अन्धों की तरह नहीं। महात्मा जी का हुकुम मिलने पर भी नहीं। कांग्रेस समस्वर से उसकी प्रतिध्वनि करती रहे तो भी नहीं। भारत के बीस लाख रुपये की खादी से अस्सी करोड़ रुपये का अभाव मिटाया नहीं जा सकता। लकड़ी के चरखे से लोहे के यन्त्र को हराया नहीं जा सकता, और ऐसा कर सकने से भी उससे मनुष्यों के कल्याण का मार्ग सुप्रशस्त नहीं होता। विशेषतः सम्प्रति यह

अर्थ-नैतिक विवाद नहीं है। यह है राजनैतिक विवाद। यह बात किसी तरह भी भूल न जाना चाहिये। इस कारण जापानी सूत से देश के करघे पर बने कपड़े से ही हो, देश के कल-पुर्जों से बनाये हुए कपड़े से ही हो, अथवा मौजी लोगों के खद्दर से ही हो, इस व्रत का उद्यापन करना ही उचित है। बङ्गाल में यह व्रत अज्ञात नहीं है। उस दिन बङ्गाल के मनीषियों ने जो पथ स्थिर कर दिया था, आज भी उसी पथ से यह संकल्प सार्थक होगा। British Cloth के स्थान में Foreign Cloth जोड़कर अहिंसा-नीति की पराकाष्ठा दिखायी जा सकती है, किन्तु असम्भव के मोह में पड़ने से, आत्म-वञ्चना से केवल वञ्चना का जञ्जाल ही स्तूपाकार हो जायगा—और कुछ भी न होगा। आगामी ३१ दिसम्बर को आतिशबाजी उस बार की ही तरह आँख में धूल झोंक कर निर्विघ्न रूप से गुजर जायगी।

बङ्गाल के एक गाँव में मेरा घर है। मैं बङ्गाल को नहीं पहचानता, यह अपवाद शायद मेरा बड़ा से बड़ा शत्रु भी मुझे न देगा। घर-घर जाकर मैंने देखा है, यह बात नहीं चलती। स्वदेश वत्सल दो-चार पुरुषों में भले ही यह बात चलती हो, किन्तु स्त्रियों में तो यह नहीं चलती। अन्यान्य प्रदेशों की बात मैं नहीं जानता किन्तु इस देश में स्त्रियों को दिनान्त में बहुत से वस्त्रों की जरूरत पड़ती है। यही इस देश की सामाजिक रीति है; और यही इस देश का मज्जागत संस्कार है। सभा में खड़े होकर खद्दर की महिमा गाकर गला फाड़ डालने से भी वह चीत्कार किसी तरह भी गाँव के निभृत अन्तःपुर में न पहुँचेगा, सम्पन्न गृहस्थ की ही बात केवल मैं नहीं कहता—यही सत्य है और इसको स्वीकार करना ही ठीक है। बङ्गाल के किसी सब-डिवीजन को दो मन चरखे का सूत तैयार होने की नजीर दाखिल करने से इसका जवाब

देना नहीं होता। यह तो हुआ खद्दर का विवरण। चरखे की भी यही अवस्था है। हमारे उस तरफ किसान-मजदूरों के घरों में स्त्रियों को सारे दिन कठोर परिश्रम करना पड़ता है। उसके ही भीतर यदि एकाध घण्टा समय मिल जाता है तो महात्मा जी का आदेश बताकर चरखे का डण्डा हाथ में धरा देने पर भी उन्हें नींद आने लग जाती है। इसके लिए मैं उनको दोष नहीं दे सकता। सम्भवतः वास्तविक आवश्यकता न रहने के ही कारण ऐसी बात होती है।

इस प्रसङ्ग में मैं एक बात और कहना आवश्यक समझता हूँ। इस देश के बहुत से विशिष्ट व्यक्तियों का मत है कि मनुष्यों की जीवन-यात्रा की आवश्यकताओं को प्रतिदिन ही घटाते रहने की जरूरत है। अभाव का बोध ही दुःख है। इसलिए दस हाथ के बदले पाँच हाथ कपड़ा और पाँच हाथ के बदले कौपीन पहनना ठीक है—और जब कि विलासिता पाप है, इसी कारण सब प्रकार की कृच्छ्र साधना ही मनुष्यत्व के विकास का सर्वोत्तम उपाय है। यह पुण्य-भूमि त्याग-महात्म्य से ही परिपूर्ण है। उच्चाङ्ग के दर्शन शास्त्र में क्या है, मैं नहीं जानता। किन्तु सहज बुद्धि से मालूम होता है कि यह त्याग का मन्त्र दिन पर दिन सर्वसाधारण को मनुष्य की श्रेणी से उतार कर पशु की श्रेणी में खींचता जा रहा है। उच्चाकांक्षा कैसे करेंगे, उनका अभाव बोध का स्रोत ही सूख गया है। छोटी जाति का है, अस्पृश्य है—इसके लिए क्या किया जाय? भगवान् का बनाया है। एक बार से अधिक अन्न नहीं जुटता—भाग्य की लिखावट है। इससे सन्तुष्ट रहना उचित है। जो लोग और कुछ अधिक जानते हैं, वे उदास नेत्रों से ताकते हुए कहते हैं—संसार तो माया है—दो दिनों का खेल है। इस जन्म में सन्तुष्ट चित्त से दुःख सहते रहने से अन्य जन्म में मुँह

ऊपर उठाने का मौका मिलेगा। एक भाग्य के सिवा और किसी के विरुद्ध उनकी नालिश नहीं है। वे कुछ माँगने का हाल नहीं जानते, माँगने में उन्हें भय लगता है। अन्न नहीं है, वस्त्र नहीं है, शक्ति नहीं है, स्वास्थ्य नही है, अभाव के बाद अभाव निरन्तर जितना ही ऊपर दबाव डालता है, वे उतना ही सह लेने के लिए वर माँगते रहते हैं। इससे भी जब काम नहीं चलता, तब आकाश की तरफ़ चुपचाप ताकते रहते हैं और फिर आँखों को बन्द कर लेते हैं।

पुरातन पंथियों के मुख से एक बात दुःख के साथ प्रायः ही सुनी जाती है कि उस युग में तो ऐसी बात नहीं थी, अब तो हलवाहे तक भी कमीज पहनते हैं; पैरों में जूते पहनते हैं, माथे पर छाता रखते हैं, उनकी स्त्रियाँ शरीर में साबुन लगाती हैं, बाबूगिरी से देश बरबाद हो रहा है। ऐसे लोगों के उत्तर में तुम लोगों को यही कहना चाहिये कि यदि यही बात सच हो, तो यह आनन्द की बात हैं। देश वैराग्य के ध्वंसात्मक पथ की ओर न जाकर उन्नति की ओर अग्रसर हो रहा है। उसका ही आभास दिखाई पड़ा है। मनुष्य जितना ही माँगता है, चाहता है, उतनी ही ज्यादा उसकी पाने की शक्ति बढ़ती जाती है।

अभाव को जीत लेना ही जीवन की सफलता है। अभाव के समक्ष घुटने टेक उसे स्वीकार कर उसकी गुलामी करना ही कापुरुषता है। एक दिन जो बात नहीं थी, उसे अकारण बाबूगिरी कहकर धिक्कारने से ही देश की कल्याण-कामना नहीं प्रकट होती।

विगत दिसम्बर मास में, कलकत्ते में, All India Youth League के सम्मेलन के सभापति श्रीयुत् नैरिमैन साहब ने जो भाषण दिया था, उसके एक अंश का मैं उल्लेख करना चाहता हूँ। उच्छ्वासपूर्ण आवेग से उन्होंने बारंबार यही कहा था कि बारदोली

में अंग्रेजी शासन-दण्ड को हमने भूमिसात् कर दिया है। ब्रिटिश सिंह लज्जा के मारे अब मस्तक ऊपर उठा नहीं सकता। इसलिए Bordolise the whole Country। बारदोली की गौरवहानि करने का संकल्प हमारा नहीं है, और वे लोग साहसी हैं, दृढ़ चित्त हैं, और उन्होंने बड़ा काम ही किया है, यह मैं सम्पूर्ण रूप से स्वीकार करता हूँ। किन्तु ठीक ऐसा ही काम यदि इस बङ्गदेश में भी तुमलोगों को करना पड़े तो करो, किन्तु पश्चिम भारत के कांग्रेस नेताओं की तरह सारी दुनिया में इस तरह ताल ठोंकते हुए घूमते मत रहना। थोड़ा सा विनय अच्छा है। घटना क्या थी, संक्षेप में बता रहा हूँ। प्रजाजनों ने कहा—"हुजूर लगान की दर एक रुपये से बढ़कर दो रुपये हो गयी है। हमलोग अब लगान न दे सकेंगे—हम सब मर जायँगे। सच है या नहीं, इसकी जाँच करके देख लें।"

नासमझ राज कर्मचारियों ने कहा—"नहीं, यह नहीं हो सकता। पहले लगान दो, उसके बाद जाँच करूँगा।"

प्रजाजनों ने कहा—"नहीं।"

नेता लोगों ने एकत्र होकर सरकार को बताया—यह विवाद विशुद्ध अर्थनैतिक है—यह एकदम ही राजनैतिक नहीं है।

गवर्मेण्ट ने इस कथन पर ध्यान नहीं दिया। थोड़े-थोड़े अत्याचार से ही उत्पीड़न शुरू हो गया—यूनियन बोर्ड के उपलक्ष्य में कुछ-कुछ मेदिनीपुर में उस बार जैसा हुआ था। छोटे-बड़े नेता जहाँ जितने भी थे—सभी कोलाहल करने लगे। समाचार पत्रों में इस बात की धूम मच गयी। लाखों रुपये बारदौली में भेजे गये—युद्ध चलने लगा।

यह युद्ध तब तक चलता रहा, जब तक सरकार का सन्देह दूर नहीं हुआ कि प्रजागण ब्रिटिश साम्राज्य को उलट देने की चेष्टा में नहीं है—वे तो केवल Inquiry चाहते हैं और यदि

सम्भव हो तो लगान में कुछ छूट चाहते हैं, केवल न्याय विचार चाहते हैं। संक्षेप में इस घटना का यही इतिहास है। बङ्गदेश में कभी इसको ब्रिटिश की पराजय न समझ लेना, अथवा Political संघर्ष को Economical झगड़ा कहकर भी भूल न करना—उस repression का चेहरा ही पृथक् है। यदि तुमलोग कभी काम में उतरते हो जैसा कि विगत कांग्रेस volunteer organization में उतर पड़े थे—जिसकी बराबरी में भारत के और किसी भी स्थान में आज तक नहीं हुआ—तब आत्म प्रवञ्चना से अपने को और देश को धोखा मत देना। तो भी आशा यही है कि यहाँ उपस्थित सदस्यों में ऐसे वयोवृद्ध अनेक हैं, जो अंग्रेजों की उस मूर्ति को अच्छी तरह ही पहचानते हैं। जिसका यथार्थ मूल्य जो है, वह बताने के ही लिए मैंने इतनी बातें कही हैं। अपमान करने का उद्देश्य लेशमात्र भी नहीं है।

मैंने बहुत समय लिया। शायद मेरा यह अभिभाषण अनुचित रूप से लम्बा हो गया। अन्त में एक बात कहकर मैं अपना वक्तव्य समाप्त करूँगा—वह है, देश में शिक्षा-प्रसार की बात। जिस शिक्षा की माँग सभ्य जगत के प्रजागण करते हैं, वह शिक्षा-विस्तार गवर्मेण्ट की ऐकान्तिक चेष्टा के बिना व्यक्ति विशेष की चेष्टा से नहीं हो सकता। मैं शिक्षा-विस्तार करने का निषेध नहीं करता। किन्तु यहाँ एक night school और वहाँ एक आश्रम, विद्यापीठ खोल देने से जो काम होता है वह तो बच्चों के खेल का दूसरा नाम है। वह जो कुछ भी हो, लिखने-पढ़ने के अतिरिक्त उसकी अन्य आवश्यकता भी है। किन्तु जो लोग यह बात कहते हैं कि देश के सभी लोग जब तक शिक्षा नहीं प्राप्त कर लेते, तब तक कोई उपाय नहीं है, हमारे लिए मुक्ति का द्वार एकान्त अवरुद्ध है और इसलिए सभी कामों को छोड़कर शिक्षा प्रचार में ही व्यस्त हो। इसमें सन्देह

नहीं कि ये लोग अच्छे मनुष्य हैं, किन्तु इनके ऊपर मैं बहुत ही कम भरोसा रखता हूँ। अब मैं अपना वक्तव्य समाप्त करता हूँ। मुसलमान भाइयों के सम्बन्ध में पृथक् रूप से कुछ कहने की मैं जरूरत नहीं समझता। क्योंकि वे लोग भी देश के इस तरुण-संघ के अन्तर्गत हैं। तरुणजन तरुण जाति के हैं। उनका और कोई नाम नहीं है।

तुम लोग अपने प्यार से मुझे इतनी दूर खींच लाये हो, इसके लिए मैं तुम लोगों को धन्यवाद देता हूँ।

सत्य समझकर अनेक अप्रिय बातें मैंने कह दी है। इसका पुरस्कार रक्खा हुआ है। इस कांग्रेस मण्डप में ही दो दिनों के बाद तिरस्कार की बाढ़ आ जायगी। किन्तु उस समय मैं हबड़े के निभृत गाँव माजू में जाकर साहित्य के दरबार में भिड़ जाऊँगा, यहाँ के तर्जन-गर्जन मेरे कानों में न पहुँचेंगे। इतना ही भरोसा है।

मुसलिम साहित्य-समाज

मुसलिम साहित्य-समाज के दशम वार्षिक अधिवेशन में आप लोगों ने सभापति पद के लिये मेरा निर्वाचन किया है। यद्यपि आप लोगों ने इसका नाम मुसलिम साहित्य-समाज रक्खा है तथापि इस निर्वाचन में एक परम उदारता विद्यमान है। मैं हिन्दू अथवा मुसलमान समाज के अन्तर्गत हूँ? मैं बहु देवतावादी हूँ अथवा एकेश्वरवादी हूँ? यह प्रश्न आप लोगों ने मुझसे नहीं किया है। आप लोगों ने केवल यही सोचा है कि मैं बङ्गाली हूँ, बङ्ग साहित्य की सेवा करते-करते बूढ़ा हो गया हूँ। इस कारण साहित्यिक दरबार में मेरा भी एक स्थान है। इसीलिये यह स्थान मुझे आप लोगों ने प्रदान किया है। मैंने भी आनन्द के साथ उस दान को ग्रहण किया है। सोचता हूँ, क्या आज अन्य सभी विषयों में ही ऐसी ही बात हो सकती है? जो गुणवान है, जो महान है, जो बड़ा है—वह हिन्दू हो, मुसलमान हो, क्रिश्चियन ही हो, स्पृश्य-अस्पृश्य जो भी हो, स्वच्छन्द-भाव से, विनय के साथ उसके योग्य आसन उसको प्रदान करना ही चाहिये। काश, कोई संशय द्विधा कहीं कण्टक रोपन न कर सकती! किन्तु इस बात को छोड़ दें।

मैंने पहले किसी एक पत्र में उल्लेख किया था कि साहित्य के तत्वों पर विचार बहुत काफी हो चुका है। अनेक मनीषियों ने,

अनेक रसिकों ने, अनेक अधिकारियों ने, बहु बार इसकी सीमा और इसका स्वरूप बता दिया है; उस आलोचना का प्रवर्त्तन करने की रुचि अब मेरी नहीं है। मैं कहता हूँ साहित्य-सम्मेलन निबन्ध-पाठ करने के लिए नहीं है, सुतीक्ष्ण समालोचना से किसी को धाराशायी करने के लिए भी नहीं। कौन कितना असमर्थ है, इसकी घोषणा उच्च कण्ठ से करने के लिए नहीं; जिसने जो कुछ भी लिखा है; क्यों अच्छा नहीं लिखा है; यह कैफियत वसूल करने के लिए नहीं है, यह स्थान तो केवल साहित्यिकों का मिलन क्षेत्र है। इसका आयोजन एक के साथ दूसरे का भाव विनिमय करने और सम्यक परिचय के लिए है। मुझे याद पड़ता है, जब मेरी अवस्था बहुत थोड़ी थी, जब इस व्रत में मैं नया व्रती बना था, तब आमन्त्रण पाकर भी कितनी ही साहित्य-सभाओं में दुविधा से, संकोच से मैं उपस्थित न हो पाता था। मैं निश्चित रूप से जानता था सभापति के सुदीर्घ अभिभाषण का एक अंश मेरे लिए निर्दिष्ट है ही। कभी तो नाम देकर, कभी न देकर। वक्तव्य अति सरस है। मेरी रचनाओं से देश-दुर्नीति से परिपूर्ण हो गया, और सनातन हिन्दू समाज के जहन्नुम में जाने में देर नहीं है। जाने की आशंका थी, यदि मैं असहिष्णु होकर नजीर देकर उसका जवाब देता। किन्तु वह कुकर्म मैंने किसी दिन नहीं किया—मैं सोचता था कि यदि मेरी साहित्य रचना सत्य के ऊपर प्रतिष्ठित होगी, तो किसी न किसी दिन लोग उसे जरूर समझेंगे। जो भी हो, मैंने जो दुःख स्वयं भोगा है, वही दुःख मैं दूसरों को नहीं देना चाहता। किन्तु कपट छोड़कर मैं कह सकता हूँ कि, मेरा भाषण सुनकर आपलोगों की साहित्यिक विज्ञता तिलमात्र भी न बढ़ेगी। और जब कि मैं यही जानता हूँ कि यह बढ़ेगी ही नहीं, तब कुछ निरर्थक बातों को मैं किस लिए सामने रक्खूँ? सारी बात इसी स्थल

पर समाप्त कर देने से ही तो काम हो जाता है या नहीं होता; ऐसी बात तो नहीं है, किन्तु मैंने स्वयं ही शायद यह प्रसंग एक दिन उठाया था। इसीलिए उसी सूत्र को पकड़ कर इस सम्मेलन में और भी दो-चार बातें कहने का लोभ मैं संवरण नहीं कर सकता।

एक दिन मेरे कलकत्ते के मकान पर काजी मातेहर साहब का आना हुआ। वे साहित्य की आलोचना करने नहीं आये थे, वे शतरंज खेलने आये थे—यह दोष हम दोनों ही जनों में है—मेरा स्वास्थ्य ठीक नहीं था, खेल नहीं जम सका। उसी समय वर्तमान साहित्य के सम्बन्ध में कुछ आलोचना होने लगी। उसी आलोचना का सारांश मैंने कल्याणी या जहानारा के वार्षिक पत्र 'वर्णवाणी' में में चिट्ठियों के आकार में लिख भेजा था। और उसको ही 'अवांछित व्यवधान' शीर्षक से 'बुलबुल' मासिक पत्र के सम्पादक श्रद्धास्पद मुहम्मद हबिबुल्ला साहब ने अपने पत्र के आषाढ़ मास के अंक में उद्धृत किया है। मैंने देखा कि, उसका एक जवाब श्रीयुत् लीलामय राय ने दिया है, और एक दिया है वाजिदअली साहब ने।

लीलामय के लेख में क्षोभ है, क्रोध है, नैराश्य है। मैंने कहा था यदि साहित्य-साधना सत्य होगी, तो उस सत्य के बीच से ही एक दिन ऐक्य जरूर पैदा हो जायगा, क्योंकि साहित्य सेवकगण पारस्परिक रूप में परम आत्मीय हैं। हिन्दू हों, मुसलमान हों, क्रिश्चियन हों कोई भी पराया नहीं है। सभी स्वजन हैं। लीलामय ने कहा—"यदि प्रतिकार हो, तब तो वह साहित्य में नहीं है—वह स्वजातीयता में है।" स्वजातीयता शब्द के द्वारा उन्होंने कौन सी बात कहने की इच्छा की, यह मेरी समझ में न आ सका। उन्होंने कहा है—"ऐक्य नामक वस्तु Organic है। हड्डी के साथ मांस मिल जाने से जैसे कोई मनुष्य नहीं बन जाता, वैसे ही हिन्दू के साथ मुसलमान के मिलने से बंगाली नहीं हो जाता, भारतीय नहीं

हो जाता।" बाद को उन्होंने कहा है—"हिन्दू-मुसलमानों में पारस्परिक समझौता कहने के अतिरिक्त और कुछ तो करना नहीं है। इस कारण आपस में व्यवधान रह ही जायगा, जातीयता भी न होगी, आत्मीयता भी न होगी।" ये सभी उक्तियाँ क्षोभ प्रकट करने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। किन्तु मैं कहता हूँ, इन-लोगों में श्रेष्ठ साहित्यिक, विद्वान और चिन्ताशील व्यक्ति भी यदि आज ऐसी बातें कहते रहेंगे तो नैराश्य से चारों तरफ अन्धकार छा जायगा। यह बात क्या वे लोग नहीं सोचते? मन की तिक्तता से कोई मीमांसा नहीं होती, और मिलन भी नहीं होता। इसी प्रकार की निराशा प्रकट हुयी है मुहम्मद वाजिदअली के निबन्ध में भी। उन्होंने कहा है—"आज जो लोग नये सिरे से हमारे दो प्रतिवेशी समाजों के सम्बन्ध में विचार करेंगे, इस विषय को लेकर जो आश्चर्य-जनक समस्या उत्पन्न हुई है, उसका बन्धन काटकर कल्याण के मार्ग की ओर गमन करेंगे, तब उन्हें पता चलेगा कि वह मार्ग बहुत ही लम्बा है, उस पथ की साधना बहुत ही दुस्तर है।" इसी बात को मैं नहीं मानता। मैं जोर देकर पूछना चाहता हूँ कि उनका मार्ग आखिर कितना लम्बा होगा? किस कारण उनकी साधना विकट हो जायगी? किस कारण एक सहज सुन्दर पथ में इस समस्या का समाधान हमें ढूँढ़ने से न मिलेगा? वाजिदअली साहब ने बाद में कहा है—"जिनके मन में भीषण विरोध वर्तमान है, हृदय में गम्भीर अप्रेम विद्यमान है, चित्त में दीर्घ व्यवधान रह गया है, उनको ही खींचकर आस पास खड़ा कर दिया गया। शिष्टाचार वश लोगों ने हाथ के साथ हाथ मिलाया किन्तु उनलोगों की निगाहें एक दूसरे से नहीं मिल पायीं। एक का हृदय दूसरे के हृदय से सौ योजन दूर ही रहा।" इसका कारण बताते हुए उन्होंने कहा है, "अपरिचित मुसलिम जाति विजयी के वेश में यहाँ आयी। उसने राजा के आसन

को अपने अधिकार में किया। उसे राज सम्मान प्राप्त हुआ। जनता ने उसका साथ भी दिया। किन्तु भारतवर्ष को स्वदेश मानकर भी, देश वासियों की मित्रता उसको उपलब्ध न हो सकी। इनके अपरिचय का जो व्यवधान रहा, वह अवांछित होने पर भी किसी दिन दूर नहीं हो सका।" किन्तु यह बात क्या सम्पूर्ण सत्य है? सच होने से इस अवांछित व्यवधान को हटाकर दोस्ती करने में कितने दिन लगेंगे? मालूम होता है कि लीलामय ने बहुत व्यथा के बीच से ही लिखा है—"जो लोग विदेशों से आये हैं आज भी इसे याद रक्खे हुए हैं, जो लोग जल के ऊपर तेल की तरह रहने का निश्चय सदा से करते आये हैं, देश के अतीत के सम्बन्ध में जिनमें अनुसन्धानेच्छा नहीं रहती और वर्तमान के सम्बन्ध में जिनके मन में वेदना-बोध नहीं है, राष्ट्र के भीतर एक अन्य राष्ट्र की रचना करना ही जिनका स्वप्न है, उनलोगों के हम कौन होते हैं, जो अपनी ही तरफ से उनको सच बात सुनाने जायँ?"

इस बात का अर्थ यह नहीं है कि हमलोग व्यवधान पसन्द करते हैं, मिताई नहीं चाहते, परस्पर की आलोचना-समालोचना का परित्याग करना ही हमारा कर्तव्य है। इस उक्ति का तातपर्य क्या है? इसका उत्तर समस्त साहित्य-रसिक विदग्ध मुसलिम समाज से ही मैं पाना चाहता हूँ। कलह-विवाद, तर्क-वितर्क, वाद-वितण्डा करके नहीं। कहाँ अन्याय है, किस स्थान में अविचार छिपा हुआ है, उस अकल्याण को स्वस्थ सबल चित्त से ढूँढ़ निकालने को कहता हूँ, और यह भी कहता हूँ कि दोनों ही पक्ष विनययुक्त श्रद्धा के साथ उसे स्वीकार कर लें। तब परस्पर का स्नेह, प्रेम, क्षमा हमलोग अवश्य पावेंगे।

वाजिदअली साहब ने एक बहुत भरोसे की बात कही है, उसे हिन्दू-मुसलमान सभी को याद रखनी चाहिये। उन्होंने कहा है—

"मुसलिम साहित्य-सेवक अरबी-फारसी शब्द बङ्गला भाषा के साथ जोड़ना चाहते हैं। इसपर आपत्ति या अनापत्ति तुच्छ बात है, क्योंकि, केवल कलम चलाने से वह सम्भव नहीं है। उसके लिए प्रचुर साहित्यिक शक्ति चाहिये, सृष्टिशील प्रतिभा चाहिये। ये दोनों जहाँ नहीं हैं, वहाँ भाषा-भूषण पहनाने में अति सहज में ही बहु-रुपिया बनना पड़ेगा।"

जरूर ऐसा बनना पड़ेगा। किन्तु इसका ज्ञान किसको है? जो यथार्थ साहित्य-रसिक हैं उसी को इसका ज्ञान है। जो भाषा को प्यार करते हैं, कपट छोड़कर जो साहित्य की सेवा करते हैं, उनसे तो मुझे भय नहीं है। मुझे भय तो उनसे है, जो साहित्य की सेवा न करके भी साहित्य के सर्वेसर्वा बने हुए हैं। अप्रिय होने पर भी मैं एक दृष्टान्त देता हूँ। महेश नामक मेरी लिखी एक कहानी है। बहुत से साहित्य-प्रेमी लोगों ने उसकी प्रशंसा की थी। एक दिन मुझे समाचार मिला कि Matric की पाठ्य-पुस्तक रूप में उसकी स्वीकृति हुई है। फिर एक दिन खबर मिली कि वह अस्वीकृत हो गयी। विश्वविद्यालय के साथ अपना कोई सम्पर्क नहीं है। मैंने सोचा, शायद ऐसा ही नियम है। किन्तु बहुत दिनों के बाद एक साहित्यिक मित्र के मुँह से मैंने इस परिवर्त्तन का कारण सुना। उन्होंने बताया कि इस कहानी में गोहत्या है। अहा! हिन्दू बालक पढ़ेगा, तो उसकी छाती में शूल बिंध जायगा। विश्वविद्यालय के बंगलाविभाग के बड़ी-बड़ी तनख्वाह पाने वाले कर्मचारी इसे कैसे सहन करेंगे? इस कारण महेश के स्थान पर उनका स्वरचित गल्प 'प्रेमेर ठाकुर' (प्रेम के ठाकुर अर्थात् देवता) रख दिया गया। मेरी महेश नामक कहानी शायद कुछ लोग पढ़ चुके होंगे, बहुत से लोग न भी पढ़े होंगे। इस कारण केवल विषय-वस्तु का संक्षेप में वर्णन करता हूँ।—

एक हिन्दू जमींदार के अधीनस्थ एक छोटे से गाँव में गफूर नामक एक गरीब किसान रहता था। उसका मकान बहुत ही छोटा-सा फूसका बना हुआ था। वह इतना पुराना और सड़ा हुआ था कि उसमें छेदों की भरमार थी। उसके घर में उसकी एकमात्र दस वर्षीया कन्या अमीना थी, और उसे एक बैल था। उस बैल को गफूर बहुत प्यार करता था। प्यार की अधिकता से उसने उसका नाम महेश रक्खा था। लगान बकाया पड़ जाने पर उससे बकाये की वसूली के लिए जमींदार ने उसके खेत का धान और पुआल जब्त कर लिया। तब उसने रोकर कहा—हुजूर, मेरा धान तुम ले लो, हम बाप-बेटी भीख माँग कर खायेंगे, किन्तु पुआल मत रोको दे दो—नहीं तो इस दुर्दिन में मैं अपने महेश को कैसे बचाऊँगा किन्तु उसका रोना-धोना जंगल में रोने की तरह निरर्थक हो गया। किसी ने उसके ऊपर दया नहीं की। इसके बाद उसके प्रति कितने ही प्रकार के उत्पीड़न चलने लगे। दुःखों का कोई अन्त नहीं रहा।

जब लड़की जल लाने के लिए बाहर चली जाती थी, तब गफूर पुराने घर की छाजन का फूस नोच-नोचकर महेश को खिलाता था। झूठ-मूठ ही लड़की से कहता—बेटी, आज तबीयत ठीक नहीं है, बुखार चढ़ा है, मेरे लिए जो भात पका है, वह महेश को दे दो। दिन भर वह स्वयं बिना खाये रह जाता था। भूख से छट-पटाकर महेश ऊधम मचाने लगता, तो लड़की के सामने भी उसे अत्यन्त लज्जित होना पड़ता। लोग कहने लगते, गफूर, तू बैल को खिला ही नहीं सकता तो उसे बेच दे।

गफूर आँखों से आँसू गिरा कर कहता—महेश! तू मेरा बेटा है, तूने सात साल तक मेरा पालन किया है। खाना न मिलने से तू कितना दुबला हो गया है। मैं क्या तुझे दूसरों के हाथ कभी

बेच सकता हूँ बेटा! इसी तरह दिन बीत रहे थे। किन्तु एक दिन अकस्मात् एक विषम काण्ड मच गया। उस गाँव में जल भी सुलभ नहीं था। पोखरी सूख गयी थी। उसकी निचली सतह पर गढ़ा खोदने से बहुत थोड़ा-सा जल मिलता था। गाँव में प्रायः सभी हिन्दू ही थे। छूआ-छूत का विचार तो था ही। अमीना गरीब मुसलमान की लड़की थी। वह छूआ-छूत के भय से पोखरी के किनारे खड़ी रहकर पड़ोस की हिन्दू स्त्रियों से जल माँग लाती थी। एक दिन बहुत देर तक चेष्टा करने पर किसी तरह उसका घड़ा भर गया और वह जल लेकर अपने घर आ गयी। भूखे-प्यासे महेश ने उसे धक्का देकर एक तरफ फेंक दिया। घड़ा फूट गया, और वह एक साँस से जमीन से जल चूस-चूसकर पीने लगा। लड़की रोने लगी। गफूर ज्वर से पीड़ित था, प्यास से उसका गला सूख गया था, तो भी वह कोठरी से बाहर निकल आया। यह दृश्य उससे सहा नहीं गया। उसके सामने लकड़ी का एक टुकड़ा पड़ा हुआ था। उसे उठाकर उसने महेश के माथे पर जोर से प्रहार कर दिया। अनशन से महेश मृतप्राय हो ही चुका था। प्रहार पड़ते ही दो-चार बार हाथ-पैर पटक कर उसने प्राण त्याग दिया।

पड़ोसियों ने आकर कहा—हिन्दुओं के गाँव में गो-हत्या! तर्करत्न जी के पास जमींदार ने व्यवस्था लाने को आदमी भेजा है। इस बार तो घर-द्वार बिक जायगा। गफूर दोनों घुटनों पर मुँह रखकर चुपचाप बैठा रहा। महेश के शोक से, अपनी करनी के अनुताप से उसका हृदय जलता जा रहा था। बड़ी रात को गफूर ने लड़की को जगाकर कहा—चल हम यहाँ से चल दें।

लड़की घर के सामने बरामदे में सो रही थी। आँखों को मलती

हुयी उसने कहा—कहाँ बाबू जी ! गफूर बोला—फुलबेड़ के चटकल में काम करने के लिए।

अमीना आश्चर्य में पड़कर ताकती रही। इसके पहले बड़े दुःख में भी उसका पिता चटकल में काम करने नहीं गया था। वह कहता था—वहाँ धर्म नहीं बचता, स्त्रियों की इज्जत नहीं बचती। वहाँ काम करना ठीक नहीं है। किन्तु अकस्मात् यह कैसी बात ?

गफूर बोला—अब देर करना ठीक नहीं है बेटी, चल। बहुत दूर का रास्ता चलना पड़ेगा।

अमीना जल पीने का लोटा और बाबू जी के भात खाने का पीतल का बरतन अपने साथ ले रही थी। किन्तु बाबू जी ने मना करके कहा—"इन सबको रहने दे न बेटी, इससे मेरे महेश का प्रायश्चित्त होगा।"

इसके बाद कहानी के उपसंहार में यह लिखा है—"अँधेरी आधी रात को वह लड़की का हाथ पकड़ कर घर से निकल पड़ा। इस गाँव में उसका कोई भी आत्मीय नहीं था। किसी से भी कुछ कहने की बात नहीं थी। आँगन को पार कर रास्ते के पास बबूल वृक्ष के नीचे आकर वह ठिठक कर खड़ा हो गया और फूट-फूटकर रोने लगा। नक्षत्र खचित काले रङ्ग के आकाश की ओर मुँह उठाकर उसने कहा—"अल्लाह ! जितनी इच्छा हो, मुझे सजा देना, किन्तु मेरा महेश प्यास स तड़प कर मरा है। उसको चरने के लिए थोड़ी-सी भी जमीन किसी ने नहीं छोड़ी। जिन लोगों ने तुम्हारी दी हुई खेतों की घास, तुम्हारा दिया हुआ पीने का जल उसको पीने के लिए नहीं दिया, उनका कसूर तुम कभी माफ मत करना।"

यही हुई गो-हत्या ! इसे ही पढ़ने से हिन्दुओं के लड़कों की

छाती में बाण लग जायगा। इससे तो यही अच्छा है कि वे 'प्रेमेर ठाकुर' (प्रेम के देवता) को पढ़ें। इससे इहलोक की सद्गति भले ही न हो, परलोक में तो अवश्य ही सद्गति होगी। इस कान्तिमान सुपरिपुष्ट 'प्रेमेर ठाकुर' से पूछने की इच्छा होती है कि मुसलिम सम्पादित पत्र में इस कहानी की जो कड़ी आलोचना निकली थी, उसका क्या कोई कारण नहीं है? क्या वह एकदम ही अमूलक है?

इसीलिए उम्र में जो मुझसे भी बड़े हैं, उनसे मैं यही निवेदन करना ठीक समझता हूँ कि बहुत बड़े होने पर भी मन में कुछ विनय रखना ठीक है। यह सोच लेना उचित है कि उनकी लिखी कहानी के साथ बङ्गदेश की छात्र-छात्राओं का परिचय न मिलने पर भी कोई विशेष हानि नहीं थी। Text Book से मुझे पैसा नहीं मिलता—मेरा वह व्यवसाय भी नहीं है—इसलिए कोई हानि भी नहीं है—तो भी क्लेश होता है। अपने लिए नहीं—अन्य कारणों से! केवल सान्त्वना यही है कि अयोग्य लोगों के कन्धों पर भार पड़ने से ऐसी ही दुर्दशा होती है। जिस व्यक्ति ने किसी दिन साहित्य-साधना नहीं की, वह किस तरह समझेगा कि किसका अर्थ क्या होता है?

सुनता हूँ कि 'रामेर सुमति' नामक मेरी कहानी का कुछ अंश उन्होंने किसी पाठ्य-पुस्तक में दे दिया है। यह तो अत्यन्त दया की बात हुई। शायद यही आशा है राम की तरह बालकों को सुमति होगी। किन्तु कठिनाई यह है कि देश में रहीम की तरह लोग हैं ही नहीं।

केवल विद्यालय तक ही नहीं, महेश के भाग्य में अन्य दुर्घटना भी घटित हुई है। इसका विस्तृत विवरण मैं नहीं देना चाहता,

किन्तु निस्सन्देह जानता हूँ कि एक हिन्दू जमींदार ने क्रोध से आँखें लाल करके कहा था कि जिन मासिक पत्रों को या साप्ताहिक पत्रों को डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की सहायता मिलती है, उनमें ऐसी कहानियाँ न छापी जायँ। ऐसी कहानियों से जमींदारों के विरुद्ध प्रजाजनों का विद्रोह करने की उत्तेजना प्राप्त होती है। अर्थात् देश का इससे सर्वनाश हो जाता है।

उपर्युक्त हिन्दू मुखिया लोगों की तरह मुसलमान मुखिया लोग भी मौजूद हैं। सुनता हूँ कि वे लोग धर्मादेश के अनुसार ही इतिहास लिखने का आदेश करते हैं। वे कहते हैं कि ऐसा इतिहास लिखना चाहिये जिसमें लेशमात्र भी आभास न रहे कि इस्लाम धर्मावलम्बी किसी भी व्यक्ति ने कहीं भी कोई अन्याय या अविचार किया है। यहाँ भी सान्त्वना यह है कि इनमें से किसी ने कभी साहित्य-सेवा नहीं की है। की होती, तो ऐसी बात वे कभी मुँह से न निकाल सकते। सच्चे साहित्यिकों के जिम्मे यदि यह भार पड़ जाय, तो मुझे विश्वास है, न तो मुसलिम और न तो अमुसलिम, किसी भी पक्ष से बिन्दुमात्र भी शिकायत न सुनाई पड़ेगी। भाषा के प्रति, साहित्य के प्रति उनकी जो सच्ची ममता रहेगी, वह उन्हें सत्य मार्ग में ही परिचालित करेगी।

वाजिदअली साहब ने एक स्थान में कहा है—"मुसलमानों का यह नवविकसित आत्म-प्रकाश, इस्लामी संस्कृति का यह बलिष्ठ जागरण ऐसे रूप में प्रकट हुआ है कि इसने साहित्य क्षेत्र में शरत् चन्द्र की तरह शक्तिमान प्रतिभा का ध्यान आकर्षित कर लिया है। शायद देश के अनागत कल्याण का यह एक शुभ इङ्गित है। किन्तु तो भी मन, पता नहीं क्यों, सन्देह अविश्वास से द्विविधा-जिज्ञासा से हिल उठता है? 'बुलबुल' में प्रकाशित उनके पत्र से स्पष्ट है कि मुसलिम जगत के प्रति उनमें सहानुभूति का अभाव

है, प्रेम का अभाव है। और संक्षेपतः एक अन्तर्दृष्टि का अभाव है।"

मुझे यह पूछने की इच्छा होती है कि मुसलिम जाति का यह "नवस्फूर्ति आत्म-प्रकाश" इसलामी संस्कृति का यह "बलिष्ठ जागरण"—जो लोग नवीन हैं, जो उदार बँगला भाषा को अकुण्ठित मन से 'मातृ भाषा' कहकर स्वीकार करते हैं—उनका है, या जो लोग पुरातन पन्थी हैं उनका है? मेरा मत यह है कि जो लोग प्राचीन पन्थी हैं, जो लोग पीछे के अतिरिक्त सामने देखना नहीं जानते, उनका जागरण क्या मुसलिम क्या हिन्दू सभी समाजों के ही लिए विघ्न स्वरूप है। हिन्दुओं के सम्बन्ध में यह बात मैंने बहुत बार बहुत स्थानों में लिखी है, मुसलिम समाज के सम्बन्ध में भी असन्दिग्ध रूप से मैं कह सकता हूँ कि यह जागरण यदि नौजवानों का हो—तो वह सावन की पूर्णिमा के ज्वार की तरह सबको बहाकर आ जाय—तो भी मैं अपने दोनों हाथों से उसे सादर अभ्यर्थना के साथ स्वीकार कर लूँगा। यही कहूँगा कि इनके हाथ से सब कुछ ही शुभ और सुन्दर होगा—इनके हाथ से हिन्दू-मुसलिम किसी को भी भय नहीं है, इनके हाथ से हम दोनों ही निरापद होंगे। मेरी आशंका केवल प्राचीन पन्थियों के बारे में है।

बाद में उन्होंने कहा है—"शरत् चन्द्र की तरह साहित्यिकों का सम्प्रदाय, उनकी जाति एक के सिवा दो नहीं है। यह कथन सहज में ही हमारी स्वीकृति का दावा कर सकता है। किन्तु एक और सहज बात है जिसकी तरफ मैं उनकी दृष्टि आकर्षित करता हूँ। वह यह है कि साहित्य मनुष्य के मन की रचना है, और मनुष्य के मन को तैयार करता है उसका धर्म, उसका समाज, उसका पड़ोस, उसकी संस्कृति। इनसे विच्छिन्न करना क्या

सामान्य बात है? और साधारणतः वही क्या सम्पूर्ण रूप से सम्भव है?"

ये सभी बातें केवल आंशिक सत्य है—सम्पूर्ण सत्य नहीं है। क्योंकि, संक्षिप्त रूप से इतना ही जान लेना आवश्यक है कि, जिस समय मनुष्य साहित्य-रचना में निमग्न रहता है, तब वह ठीक हिन्दू भी नहीं रहता और मुसलिम भी नहीं रहता। तब वह अपने सर्वजनपरित "मैं" को बहुत दूर अतिक्रम कर जाता है, नहीं तो उसकी साहित्य साधना व्यर्थ हो जाती है। इसी कारण जहाँ कुछ भी एक नहीं है, बाह्यतः कुछ भी एक में नहीं मिलता, वहाँ भी मैक्सिम गोर्की की तरह साहित्य सेवक गण हमारे हृदय के भीतर बहुत कुछ आत्मीय स्वजन का आसन जमा कर बैठे रहते हैं। यह बात मैं सभी साहित्यिकों को याद रखने के लिए कहता हूँ। किसने कहाँ अपनी असतर्कता के अवसर पर कौन सी बात कही है, वही उसके जीवन का परम सत्य नहीं है। केवल उसके द्वारा ही विचार नहीं चलता। और इसीलिए वाजिदअली साहब ने अपने निबन्ध में मेरे सम्बन्ध में जो सब कड़ी बातें की हैं, मैं उनका जवाब देना नहीं चाहता। जब क्रोध ठंढा पड़ जायगा, तब आप ही याद पड़ जायगा कि, मैंने सच्ची बात ही कही थी, वाजिदअली साहब ने सबसे मर्मान्तिक बात इसी स्थान में कही है—"वस्तुतः दो विषम अनात्मीय संस्कृति के संघर्ष के फल स्वरूप यह विक्षोभ है, इसके लिए आक्षेप व्यर्थ है। हिन्दू मुसलिम को नहीं समझता। इसीलिए दुःख का विलाप आज चारों तरफ ध्वनित होता रहता है। किन्तु ऐसा हो भी सकता है कि, उसके भारतीय धर्म ने, समाज ने और संस्कृति ने उसके मन को संकीर्ण बना दिया है, उसकी दृष्टि को आच्छन्न कर दिया है। अपनी परिधि को अतिक्रम करके उसकी गति निश्चल हो जाती है। जो उच्चवंशोद्भव होने के कारण अपने ही गर्व में

चिर विलीन है, पराजय का प्राचीन अभिमान जिसका आज भी दुर्जय है, युद्ध के विना सूच्यग्र स्थान देने में भी जिसकी आपत्ति अन्तहीन है, उसकी बुद्धि को मुक्त कहना कठिन है। फिर भी, जिसकी मुक्ति नहीं है, वह नहीं चलता, वह चल नहीं सकता, वह जड़ है। इस आत्मकेन्द्री पर विमुख जड़बुद्धि के वातावरण ने इस देश के मुसलिम को 'अपनी वासभूमि में विदेशी' बना रक्खा है, भारत की मिट्टी के रस से रसायित होने पर भी उसका मन मानो भीगने नहीं पाता।"

लेखक ने दो विषम अनात्मीय संस्कृतियों के फल से विक्षोभ होने की जो बात कही है, इसके लिए आक्षेप व्यर्थ है। हम दोनों ही परस्पर के पड़ोसी हैं। हमारा आकाश, हमारी हवा, हमारी मिट्टी हमारा जल एक है, मातृभाषा को हम एक ही मानते हैं। तो भी संघर्ष इतना कठोर है कि, उसके लिए आक्षेप तक करना भी व्यर्थ है—यही मनोभाव यदि समस्त हिन्दू मुसलमानों के लिए सत्य होवे, तो इतनी बड़ी दुर्गति मनुष्य की और नहीं हो। क्या रवीन्द्रनाथ की बुद्धि भी जड़बुद्धि है? उनका मन क्या मुक्त नहीं हुआ है? यदि यह बात सच हो, तो वाजिदअली साहब की यह भाषा कहाँ से आ गयी? सहज, सुन्दर और अनायास ही अपना मनोभाव व्यक्त करने की शक्ति उनको किसने दी? इस युग में ऐसा लेखक, ऐसा साहित्य-सेवक कौन है, जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से रवीन्द्रनाथ का ऋणी नहीं हो? साहित्य कोई धर्म पुस्तक भी नहीं है, वह नीति-शिक्षा का ग्रन्थ भी नहीं है, तो भी, अपनी विशाल परिधि के बीच अपनी मधुरता के द्वारा उसने सब कुछ को ही अपना लिया है। इसी कारण, साहित्य हो, या रसवस्तु हो, उसका सत्य निर्देश आज तक भी किसी को नहीं मिला। कितने तर्क उठते हैं, कितने ही मतभेद उपस्थित होते हैं। इस अवांछित पार्थक्य के

सम्बन्ध में मीजनुर्रहमान साहब ने अपने जेठ मास के 'बुलबुल' मासिक पत्र में, अपने निबन्ध के एक स्थान में कठोर बनकर कहा है—"शरत्बाबू ने अपने ढेर के ढेर उपन्यासों के भीतर जहाँ-तहाँ मुसलमान समाज के जो सब चित्र अंकित किये हैं वे मुसलमान समाज के अति उच्च श्रेणी के लोगों के चित्र नहीं हैं।" किन्तु मैं पूछता हूँ कि, उच्च-नीच स्तर के पात्र-पात्रियों के ही ऊपर क्या उपन्यास की उच्चता नीचता, उत्कृष्टता निकृष्टता निर्भर करती है? यदि उनकी सम्मति यही हो, तो मेरे मत के साथ उनके मत की एकता न होगी। ऐसा भले ही न हो, किन्तु उपसंहार में जो उन्होंने कहा है कि—"हिन्दू समाज की विविध त्रुटियों और समस्याओं के सम्बन्ध में शरत्चन्द्र ने जो गल्प और उपन्यास लिखे हैं, और उनके प्रतिकार के उद्देश्य से अपने समाज को जो चाबुक लगाया है, सदिच्छा प्रेरित ऐसे निर्मम चाबुक की मार भी मुस्लिम समाज अम्लान मुख से ग्रहण करेगा, यह बात मैं दृढ़ता के साथ कह सकता हूं। बङ्गाल के कथा-साहित्य सम्राट से मैं एक बार इसकी परीक्षा कर के देख लेने का अनुरोध करता हूँ।"

उस दिन जगन्नाथ-हाल में अपने अभिनन्दन का उत्तर देते हुये मैंने अपने भाषण में कुछ इसका जिक्र किया था। हृदय की शुभ कामना को ये लोग किस तरह ग्रहण करते हैं। यह मैं इस दुनिया से बिदाई लेने के पहले देख जाऊँगा। जो कुछ भी हो, मनुष्य केवल अपनी इच्छाओं को व्यक्त ही कर सकता है, किन्तु उसकी परिपूर्णता का भार एक दूसरे के ऊपर रहता है जो वचन और मन के अगोचर हैं। उस दिन भोजन करते समय His Excellency ने मुझसे यही प्रश्न किया था, मैंने उत्तर दिया था, मुझे अपने संकल्प को कार्यरूप में परिणत करने के लिए उभय समाजों का आशीर्वाद चाहिये, उभय समाजों के साहित्य सेवकों

का आशीर्वाद चाहिये। जिस भाषा की, जिस साहित्य की सेवा मैं इतने दिनों से करता आया हूँ, उसके ऊपर अकारण अनाचार मुझसे सहा नहीं जाता। मेरे मन में यही एकान्त विश्वास है कि, जिन लोगों ने मेरी तरह साहित्य की यथार्थ साधना की है, वे हिन्दू-मुसमिल जो भी हों, किसी को भी यह अचानक सहा न होगा। सौन्दर्य और माधुर्य के लिए यदि कुछ-कुछ परिवर्तन की आवश्यकता होगी—ऐसी आवश्यकता तो कई बार हुई है—तो यह काम धीरे-धीरे ये ही लोग करेंगे। और कोई नहीं, यह हिन्दुत्व के विकास के लिए नहीं, इस्लामियत के विकास के लिए भी नहीं—केवल मातृभाषा और साहित्य के विकास के लिए ही होगा। यही मेरा छोटा सा आवेदन है।

कहाँ अपनी किस रचना में मैंने मुसलिम समाज के प्रति अविचार किया है—मेरी धारणा है कि, मैंने ऐसा नहीं किया है—इसका बहुत ही तीखा चोखा मार्ग वाद-प्रतिवाद का नहीं है, वह तो कलह-विवाद का नया रास्ता तैयार करना है।

'बुलबुल' पत्र के विविध स्थानों से मैंने जो उद्धरण दिये हैं—वे प्रयोजन समझ कर ही दिये हैं। मैं इस पत्रिका की अविच्छिन्न उन्नति की कामना करता हूँ, क्योंकि मैंने जितना भी पढ़ा है, उससे मालूम हो चुका है कि, साहित्य की उन्नति ही इनका उद्देश्य है, मेरा भी वही है। सम्भवतः कहीं कुछ कटूक्तियाँ कर चुके हों, किन्तु वे याद रखने की बातें नहीं हैं, वे भूल ही जाने योग्य हैं।

किन्तु इन बातों का कभी अन्त नहीं। कहने के विषय अब भी बहुत थे, किन्तु आपलोगों के धैर्य के प्रति सचमुच ही मैंने अत्याचार किया है। इसके लिए मैं क्षमा याचना करता हूँ। इस अभिभाषण में पाण्डित्य नहीं है, कोई कारीगरी नहीं है, जो बातें कहने योग्य हैं, उनको मैंने सरल भाव से कह दिया है, जिससे कि तात्पर्य

समझने में किसी को क्लेश न हो सके। सुन लेने के बाद कोई यह न कह सकें—जैसी अतुलनीय शब्द सम्पदा है, वैसी ही इसमें कारीगरी भी है—किन्तु ठीक क्या बात कही गयी, यह तो समझ में नहीं आयी।

मुसलमानों में जो लोग बङ्गला-साहित्य की सेवा करके चिर-स्मरणीय हो चुके हैं, उनके प्रति मेरे मन में असीम श्रद्धा है, तो भी मैं उनके नामों का उल्लेख करना नहीं चाहता।

अन्त में कृतज्ञता प्रकट करने की एक रीति प्रचलित है, जैसी कि आरम्भ करते समय विनय प्रकट करने की प्रथा। पहली रीति का पालन मैंने नहीं किया। क्योंकि, साहित्य-सभा में सभापति का काम मुझे इतना अधिक करना पड़ा है कि, इस साठ वर्ष की अवस्था में अपने को अयोग्य, बेवकूफ इत्यादि जितने प्रकार के विनय सूचक विशेषण हैं, उनको अपने नाम के साथ जोड़ देने से वह ठीक शोभनीय होगा, ऐसा मुझे नहीं जान पड़ा। किन्तु कृतज्ञता प्रकट करने के बारे में यह बात नहीं है। समस्त विदग्ध मुसलिम समाज के सामने मैं कपट हीन भाव से आज अपनी कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। आपलोग मेरा सलाम ग्रहण करें। त्रुटिपूर्ण भाषण से यदि मैंने किसी को वेदना पहुँचाई हो, तो वह मेरी भाषा की त्रुटि के कारण है, वह मेरा हार्दिक अपराध नहीं है।

मुस्लिम-साहित्य

लाट साहब ने कहा—मुसलमानों के सम्बन्ध में कहानी लिखा करो। यदि तुम यह काम कर सकोगे, तो यह अत्यन्त अच्छा होगा।

साहित्य को लेकर मैंने किसी दिन लड़कों का खिलवाड़ नहीं किया—अन्य बातों में शायद मैं बात मान भी जाता। १९१६ ई० में मैं नौकरी छोड़कर चला आया था। स्वर्गीय पाँचकौड़ी बनर्जी से भेंट हुई। उन्होंने कहा, "तू शायद पुस्तकें लिखता है? मुझे दो-चार पुस्तकें देना तो।" मैंने कहा—"वे कुछ भी नहीं हैं।" उन्होंने कहा—"देख, यदि तेरे ऊपर कोई आक्रमण करे, तो मुझे बता देना। देख पत्रिका को चलाने के लिए जिनको गाली-गलौज देना उचित नहीं है, उनको भी गालियाँ देनी पड़ती हैं। तू तो मुझसे पढ़ चुका है—जो बात अपने जीवन में अपनी अभिज्ञता के द्वारा सत्य हो उठेगी—अवश्य ही वह कल्पना होगी, वही होगी साहित्य वस्तु।"

मैंने कहा—आप आशीर्वाद दीजिये।

उन्होंने कहा—आशीर्वाद नहीं यह तो मेरा आदेश है।

लोग कह सकते हैं कि पाँच कौड़ी बनर्जी अच्छे मनुष्य थे। किन्तु उन्होंने ऐसी समालोचना की थी, जिसकी इच्छा शायद उनको नहीं थी।

वे ही दोनों बातें हैं—कभी अपने आपको अतिक्रमण करके मत चलना, और अपनी अभिज्ञता के अनुसार लिखना। साहित्य

सत्य भी नहीं है, वह पुलिस रिपोर्ट भी नहीं है। पहले जब लोगों ने कहा—वे सब बातें नहीं होतीं, अस्वाभाविक हैं—३५-३६ वर्ष की अवस्था में पहले 'चरित्रहीन' की समालोचना देखकर मैं समझ गया था कि प्रत्येक पाठक मुझसे बुद्धिमान है। और मैंने इसे कई बार देखा है, और तुम लोगों ने एक बार पढ़कर ही समालोचना की होगी।

मुझे लोगों ने जो इतना प्यार किया उसका कारण यह है कि लोगों की अभिज्ञता के साथ मेरी बातें मिलती हैं। मनुष्य वास्तव में छोटा नहीं है। इनके साथ घनिष्ठ रूप से मिलने के कारण मैं बहुत-सी बातें जान गया था। जिनको बाहर से हम जान नहीं सकते, वह सब मनुष्य के हृदय में पैठ कर जाना जा सकता है।

एक समय ऐसा था, जब मुसलिम समाज पिछड़ गया था। गवर्मेंएट ने ही उन्हें एक तरह से दबा रक्खा था। Communal Award के विषय में आलोचना करने के लिए मेरी बुलाहट हुई थी। एक भले आदमी ने कहा था—Why are you afraid of these Muhammdan people? Without Hindu's help they can't go on, they have to take it. अब वे लोग गवर्मेंएट की सहायता से अपनी बातों को समझ गये हैं।

मुझे विश्वास है, साहित्यिक दृष्टि से रूस के गोर्की इत्यादि सभी को अच्छे लगते हैं—उन लोगों के साथ हमारा कोई मेल नहीं है, तो भी हम उनको Appreciate करते हैं। मैं स्वयं ही एक मुसलिम साहित्य-समाज तैयार करूँगा। इसके अतिरिक्त हमारे लिए कोई सत्य मार्ग नहीं है—मैंने मुसलमानों से यही बात अनेक बार कही है।

मुसलमान युवकों ने मेरे सामने एक पुस्तक रख दी, जिसका नाम था—"साला बङ्किम की ग्रन्थावली।"

मैंने उनसे कहा—"क्या अपमान करने के ही लिए तुम लोग आये हो? एक मृत व्यक्ति का अपमान करना ठीक नहीं है।" बङ्किम बाबू ने अनेक स्थानों में अकारण ही मुसलमानों पर आक्रमण किया है। उस समय वे लोग अत्यन्त निर्जीव थे किन्तु सभी actions के Reactions होते हैं।

'बङ्किम दुहिता' नामक एक पुस्तक है—उसमें बहुत सी गन्दी बातें भरी हुई हैं। ऐसी बातें होना अनिवार्य है। जहाँनारा ने एक दिन मुझसे कहा—"एक लेख आपको मुझे देना पड़ेगा। मेरी 'वर्षवाणी' निकल रही है।" उसके पहले यहाँ के काजी मोताहर हुसेन ने कहा—"आप लोग क्या हमें बहिष्कृत रक्खेंगे?"

रवीन्द्रनाथ ने कहा—"मेरे पास इन लोगों की बहुत सी चिट्ठियाँ आयी हैं। मुझे चिट्ठी भेजकर कहा गया है कि, मेरी कृतियों में औरङ्गजेब के सम्बन्ध में कुछ बातें हैं जिन्हें हटा देने की जरूरत है।" रवीन्द्रनाथ अतिशय क्षुब्ध होकर कहते हैं—"नहीं, इन सब बातों के फेर में मैं नहीं पड़ना चाहता। भोलानाथ जब मर गया, तब उसका अपराध ही क्या था?" अकरम खाँ का लड़का पत्रिका चलाता है। उनलोगों की जैसी Spirit है उसका एक उदाहरण दे रहा हूँ। वह नरेनदेव के पास लेख माँगने गया, और उनसे कहा—' "बङ्गला थोड़ा बहुत समझते हैं, बोल नहीं सकते।"

हमें यही आशङ्का है कि, वे लोग पहले बङ्गला भाषा को नष्ट करेंगे। मज़ा यह कि वे लोग बङ्गला को मातृभाषा स्वीकार ही नहीं करते।

रस सेवायत

श्रीयुत् आत्मशक्ति-सम्पादक महाशय की सेवा में—

आपके ३० भादों के 'आत्मशक्ति' समाचार पत्र में मुसाफिर लिखित 'साहित्य का मामला' (साहित्येर मामला) मैंने पढ़ा। एक दिन बङ्गला साहित्य में सुनीति-दुर्नीति की आलोचना में विभिन्न समाचार पत्रों में अनेक कठिन बातों की उत्पत्ति हुई है, और अकस्मात् आज साहित्थ के "रस" की आलोचना से साहित्यिक रस तिक्त ही होता जा रहा है। ऐसा ही होता है। देवता के मन्दिर में सेवक के बदले 'सेवायतों' की संख्या बढ़ती रहे तो उससे देवी के भोग का भाग बढ़ता नहीं, वह घट ही जाता है। और मामला तो रहता ही है।

आधुनिक साहित्य-सेवियों के विरुद्ध सम्प्रति बहुत से दुर्वचनों की वृष्टि हुयी है। कुवचन की बौछार वाले इस पुण्य कर्म का लक्ष्य जिन्हें बनाया गया है, इनमें से मैं भी एक हूँ। 'शनिवार की चीठी' के पन्नों में उसका प्रमाण मौजूद है।

मुसाफिर रचित इस 'साहित्य का मामला' के अधिकांश मन्तव्यों के साथ मैं सहमत हूँ। केवल उनकी एक बात में कुछ मतभेद है।

रवीन्द्रनाथ की बात रवीन्द्रनाथ जानते हैं। किन्तु अपनी बात मैं जितना जानता हूँ, उतना शायद दूसरा कोई नहीं। "शरत्चन्द्र 'कल्लोल' 'काली कलम' या बङ्गला के किसी पत्र को ही नहीं पढ़ते

था पढ़ने का समय नहीं पाते ।" मुसाफिर का यह अनुमान निर्मूल नहीं है । किन्तु मैं यह बात मानता हूँ कि, सभी पत्रों को पढ़कर भी मैं नहीं समझता, किन्तु बिना पढ़े ही सब कुछ मैं समझ जाता हूँ, इसका भी दावा मैं नहीं करता ।

यह तो हुई मेरी अपनी बात । किन्तु जिस बात को लेकर विवाद खड़ा हो गया है, वह कौन सी चीज है, और युद्ध करके उसकी मीमांसा कैसे होगी, यह बात मेरी बुद्धि के परे है ।

रवीन्द्रनाथ ने साहित्य का धर्म निर्धारित कर दिया, और नरेशचन्द्र ने उस धर्म की सीमा निर्धारित कर दी । जैसा पाण्डित्य है, वैसी ही युक्ति है, पढ़कर मैं मोहित हो गया । मैंने सोचा, बस हो गया । इसके बाद फिर कोई बात न चलेगी । किन्तु बहुत सी बातें चल निकली हैं । तब कौन जानता था कि, किसकी सीमा पर किसने कदम बढ़ाया है, और उस सीमा की चौहद्दी को लेकर इतनी लाठी चलने की तैयारी हो जायगी ? आश्विन की 'विचित्रा' में श्रीयुत् द्विजेन्द्र नारायण बागची महाशय ने 'सीमा विचार' की राय प्रकट की है । बीस पृष्ठ ठसाठस भरे हुए हैं । कितनी बातें हैं, कितने विचार हैं, जैसी गम्भीरता है, वैसी ही विस्तृति है, वैसा ही पाण्डित्य है । वेद, वेदान्त, न्याय, गीता, विद्यापति, चण्डीदास, कालीदास की कविताएँ, उज्ज्वल, नीलमणि, बिलकुल व्याकरण के अधिकरण कारक तक ! बाप रे बाप ! मनुष्य इतना पढ़ता भी कब है, और उसे याद भी कैसे रखता है !

इसके पास "लाल शालु मण्डित वंशखण्ड-निर्मित क्रीड़ा गाण्डीव" धारी नरेशचन्द्र एकदम चिपक गये हैं । आज बचपन की एक घटना मुझे याद पड़ रही है । हमारे नव-नाट्य-समाज के बड़े अवैतनिक ऐक्टर थे नरसिंह बाबू । राम, रावण, हरिश्चन्द्र उनके

ही एकाधिकार में थे। उसी समय अकस्मात् और एक सज्जन आ धमके। और भी बड़े ऐक्टर! भारी गले की जैसी हुँकार है, हाथ-पैर संचालन का वैसा ही विघ्नरहित पराक्रम है। मानो मत्त हाथी हो। इस नवागत राम के प्रभाव से हमारे नरसिंह बाबू एकदम तृतीया की शशिकला की तरह पीले पड़ गये हैं। नरेशबाबू को मैंने देखा नहीं है, किन्तु कल्पना में उनकी मुखाकृति देखने जैसा मालूम कर रहा है, मानो वे दोनों हाथ जोड़ चतुरानन के पासजाकर कह रहे हैं—"प्रभु! इससे तो बनवास ही मेरे लिए अच्छा होता।"

द्विजेन्द्र बाबू की तर्क करने की जो रीति है, वह भी जैसी जोरदार है, उनकी दृष्टि भी वैसी ही तेज है। राय के मसविदे में कहीं एक अक्षर भी फर्क न पड़ सके, ऐसी ही सतर्कता है। मानो जाल के घेरे से छेंककर रुई-कतला से लेकर शामुक-गुगली तक छान कर निकालने को कटिबद्ध हैं।

हाय रे विचार! हाय रे साहित्य का रस! मथते-मथते कोई तृप्ति ही नहीं होती। दायीं ओर बायीं ओर रवीन्द्रनाथ और नरेश चन्द्र को लेकर अक्लान्त कर्मी द्विजेन्द्रनाथ ने निरपेक्ष समान ताल से मानो रुई धुनने का काम किया है।

किन्तु ततः किम्?

यह किम् मात्र ही बहुत चिन्ता की बात है। नरेश चन्द्र हों या द्विजेन्द्रनाथ ही हों, ये लोग साहित्यिक व्यक्ति हैं। इनका भाव विनिमय और प्रीति सम्भाषण समझ में आता है। किन्तु आदर-प्यार के इन सूत्रों को पकड़ कर जब बाहर के लोग आकर शामिल हो जाते हैं, तब उनके ताण्डव नृत्य को कौन रोक सकता है?

एक उदाहरण दे रहा हूँ। इस आश्विन की 'प्रवासी' पत्रिका में श्री व्रजवल्लभ हाजरा नामक एक व्यक्ति ने रस और रुचि की आलोचना की है। इनके आक्रमण का लक्ष्य है तरुणों का दल। और अपनी रुचि का परिचय देते हुए वे कह रहे हैं, "अब जैसी राजनीति-चर्चा में शिशु और तरुण छात्र और बेकार व्यक्ति सतत् निरत रहते हैं, उसी प्रकार अर्थोपार्जन के ही लिए बेकार साहित्यिकों का यह दल ग्रन्थ-रचना में नियुक्त रहता है। और इसका फल यह हुआ है कि "हाँड़ी चढ़ाकर कलम पकड़ने से जो बात हो सकती है, वही हो गयी है।"

इस व्यक्ति ने डिप्टीगिरी करके अर्थ संचय किया है। और आजीवन गुलामी करते रहने के पुरस्कार में मोटी पेनशन् इसके भाग्य से संलग्न हो गयी है। इसीलिए साहित्य सेवियों के निरतिशय दारिद्रय के प्रति उपहास करने में इसके मन में कोई संकोच का अनुभव मात्र भी नहीं होता। यह मनुष्य यह भी नहीं जानता कि दरिद्रता अपराध नहीं है, और सब देशों में और सब समयों में इन लोगों ने अनशन करते हुए प्राण दे दिये हैं। इसी कारण साहित्य का आज इतना बड़ा गौरव है।

व्रजवल्लभ बाबू भले ही न जानते हों, किन्तु 'प्रवासी' के प्रवीण और सहृदय सम्पादक के लिए तो यह कोई अज्ञात विषय नहीं है कि साहित्य की उत्कृष्टता और तुच्छता के विषय में आलोचना और दरिद्र साहित्यिक के घर हाँड़ी चढ़ने या न चढ़ने की आलोचना ठीक एक ही बात नहीं है। मेरा यही विश्वास है कि उनकी अज्ञातावस्था में ही इतनी बड़ी कटूक्ति उनके पत्र में छापी गयी है। और इसके लिए वे व्यथा ही अनुभव करेंगे। और सम्भवतः अपने लेखक को बुलाकर धीमे शब्दों में समझाकर कह देंगे कि भाई, मनुष्य की दीनता पर ताने कसने में जो रुचि प्रकट होती है,

वह भद्र-समाज की रुचि नहीं है और लोटा चुराने के विचार में परिपक्वता अर्जन करने से ही साहित्य के 'रस' का विचार करने में अधिकार नहीं उत्पन्न होता। इन दोनों में अन्तर है—किन्तु तुम समझ नहीं सकते।

रवीन्द्र जयन्ती के उपलक्ष में मानपत्र

कवि गुरु,

तुम्हारे प्रति दृष्टि डालने से हमारे विस्मय की सीमा नहीं है।

तुम्हारे सप्ततितम वर्ष के अन्त में मैं एकान्त मन से प्रार्थना करता हूँ कि जीवन-विधाता तुमको शतायु प्रदान करें। आज के इस जयन्ती-उत्सव की स्मृति बङ्ग जाति के जीवन में अक्षय हो जाय।

वाणी के मन्दिर ने आज गगन को स्पर्श कर लिया है। बङ्गदेश के कितने ही कवि, कितने ही शिल्पी, कितने ही सेवक इसका निर्माण करने के निमित्त द्रव्य-सामग्री वहन कर लाये हैं। वे स्वयं, उनकी साधना का धन, उनकी तपस्या आज तुममें सिद्धि प्राप्त कर चुकी है। तुम्हारे पूर्ववर्ती उन सभी साहित्याचार्यों को मैं तुम्हारे अभिनन्दन के बीच अभिनन्दित करता हूँ।

आत्मा का निगूढ़ रस, आत्मा की शोभा, उसका कल्याण और ऐश्वर्य तुम्हारे साहित्य में पूर्ण विकसित होकर विश्व को विमुग्ध कर चुका है। तुम्हारी सृष्टि के उस विचित्र और अति सुन्दर आलोक से अपने चित्र के गम्भीर और सत्य परिचय से मैं कृत-कृत्य हो गया हूँ।

हाथ पसार कर हमने संसार से बहुत कुछ लिया है, किन्तु तुम्हारे हाथ से हमने बहुत कुछ दिया भी है।

हे सार्वभौम कवि ! इस शुभ दिवस पर हम शान्त चित्त से तुमको नमस्कार करते हैं। तुममें विद्यमान सौन्दर्य के परम प्रकाश को आज हम नतमस्तक होकर बारम्बार नमस्कार करते हैं। शरत् चन्द्र चट्टोपाध्याय ११ पौष, १३३८।

रंगून में रवीन्द्रनाथ सम्वर्द्धना

जगत् वरेण्य—

श्रीयुत सर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, नाइट, डी० लिट०

महोदय के श्री चरण-कमलों में—

कविवर,

इस सुदूर समुद्रपार में बङ्गमाता के क्रोड़ से विच्युत सन्तान हमलोग आज हृदय की गम्भीरतम श्रद्धा और आनन्द का अर्घ्य लेकर, अपने स्वदेश के प्रियतम कवि, जगत् के भाव और ज्ञान-राज्य के सम्राट्—आपका अभिवादन कर रहे हैं।

आपने अपूर्व कवि-प्रतिभाबल से नवनव सौन्दर्य और नवनव आनन्द संग्रह करके बङ्गसाहित्य-भाण्डार को परिपूर्ण किया है, और नवसुर से, नवरागिणी से बङ्गहृदय को नवचेतना में उद्बोधित किया है।

आपकी काव्य-कला के सौन्दर्य के बीच से प्राच्य-हृदय का अभिनव परिचय अधुना प्रतीच्य के समक्ष सुपरिस्फुट हो उठा है और उस परिचय के आनन्द से प्रतीच्य ने आज प्राच्य के कवि-मस्तक पर साहित्य का जो सर्वश्रेष्ठ महिमा-मुकुट पहना दिया है, उसके आलोक से जननी बङ्गवाणी की मुखश्री मधुर स्मितोज्ज्वल हो उठी है।

आपकी काव्य-वीणा से सहस्र अनिर्वचनीय सुरों से भारत की चिरन्तन वाणी ने सत्य शिव सुन्दर की अनादि गाथा ध्वनित करके एक विश्वव्यापी आनन्द, अपरिसीम आशा और असीम आश्वासन से मानव-हृदय को आकुल और उद्वेलित कर दिया है।

इस विशाल सृष्टि का अणु-परमाणु एक आनन्द से नित्य परिस्पन्दित हो रहे हैं, और एक अपरिच्छिन्न प्रेमसूत्र से यह निखिल जगत् ग्रंथित हो रहा है। उसी परम सत्य का साधन आपके काव्य में हमें प्राप्त हुआ है। और आपको—किसी देश या युग विशेष नहीं—समग्र विश्व के कवि रूप में हम पहचान सके हैं। आपके वचनों में, काव्य में, नाट्य में और सङ्गीत में जिस महान् आदर्श ने आत्म-प्रकाश किया है, उससे हम समझ गये हैं कि एक लोकातीत राज्य के आलोक से आपके नेत्र उद्भासित हैं, एक अमृतसत्ता के आनन्द रस से आपका हृदय अभिषिक्त है।

आपकी अकृत्रिम एकनिष्ठ आजन्म वाणी-साधना ने आज जिस अतीन्द्रिय राज्य के स्वर्ण उपकूल में आपको उत्तीर्ण कर दिया है, वहाँ की आनन्द-गीति निखिल मानव-हृदय को नवनव आशाओं और आश्वासनों से परिपूर्ण करके काव्य-वीणा पर नित्य-काल झंकृत होती रहे, यही विश्वेश्वर के चरणों में हमारी प्रार्थना है। इति—

भवदीय गुणमुग्ध

रंगून,
२५ वैशाख १३२३ बङ्गाब्द } रंगून-प्रवासी बङ्गसन्तानगण

फरीदपुर साहित्य सम्मेलन में

उस दिन हुगली जिले के कोन्नगर ग्राम में ऐसे ही एक साहित्यिक सम्मेलन में, स्नेहास्पद लाल मियाँ भाई साहब ने जब मुझे आप लोगों के इस फरीदपुर शहर में आने के लिए आमन्त्रित किया, तब उस निमन्त्रण को सानन्द स्वीकार कर मैंने यह अनुरोध किया था कि मैं आऊँगा तो अवश्य ही, किन्तु इस बार की सभा में बहुत दिनों से आचारित और प्रचलित पुरानी प्रथाओं में परिवर्त्तन हो जाना चाहिये। मैंने कहा था कि फरीदपुर के मिलन-क्षेत्र में ऐसा प्रयत्न होना चाहिये कि जिसके द्वारा साहित्य सेवकों और साहित्य-रस पिपासुओं के सम्यक् मिलन का कार्य सुसम्पन्न हो सके। सु और कु साहित्य के निरूपणार्थ उठने वाली वाग्-वितण्डाओं से उसकी आबोहवा दूषित न होने पावे।

प्रतिवर्ष बङ्गसाहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन होता रहता है। कभी तो यह बङ्गदेश के बाहर होता है, कभी अपने ही प्रदेश के अन्तर्गत किसी भी स्थान में होता है—कभी पूर्वी बङ्गाल में, कभी पश्चिमी बङ्गाल में होता है, किन्तु सर्वत्र ही वही एक नियम चलता है, वही एक रीति चलती है। वहाँ और सभी कार्य सम्पन्न होते हैं, केवल एक काम अर्थात् परिचय नहीं होता। हम एक दूसरे के भावों का आदान-प्रदान नहीं कर सकते; हम परस्पर के मतामतों का परिचय नहीं पा सकते। इसके लिए अवकाश ही कहाँ रहता

है ? सम्मेलन तो बड़े-बड़े सुनिश्चित सारवान निबन्धों के बोझों से इस तरह लदे रहते हैं कि साहित्य-सेवकों को मिलने-जुलने का समय मिलने की बात तो दूर रही, उनको साँस लेने तक की फुरसत नहीं रहती। वहाँ पान तमाखू का इन्तजाम नहीं रहता, चाय की भी कोई व्यवस्था नहीं रहती। मिलने-जुलने का कोई उपाय नहीं रहता क्योंकि शृङ्खला नष्ट होने की आशङ्का रहती है। हास-परिहास का साहस नहीं रहता, क्योंकि बेअदबी प्रकट होने का भय रहता है। आलाप-परिचय का सुयोग नहीं मिलता, क्योंकि महत्त्वपूर्ण निबन्धों की मर्यादा क्षुण्ण हो जाने का डर लगा रहता है। मानो अदालत के असामियों की तरह वहाँ सभी गम्भीर, सभी विपन्न बने रहते हैं। कनखियों से सभी देखते रहते हैं कि निबन्ध के कितने पृष्ठ अभी पढ़ने को बाकी हैं। उसके बाद सभा भङ्ग होने की बारी आ जाती है—स्टेशन की तरफ दौड़ जाने की उतावली बढ़ जाती है। केवल वे ही लोग क्लान्त शरीर-मन से अपने घरों को वापस चले आते हैं जिनके लिए भाग जाने का कोई रास्ता ही नहीं रहता।

हमारे साहित्य-सम्मेलनों का संक्षिप्त विवरण यही है। इसी कारण मैंने अनुरोध किया था कि फरीदपुर के इस सम्मेलन के भाग्य में भी वही पुरानी विडम्बना की कहानी संयुक्त न होने पावे।

विगत दिनों के साहित्यिक अनुष्ठानों को स्मरण करके मैं आज यह प्रश्न न करूँगा कि उन लेखों की कौन-सी सद्गति आज तक हुई है—क्योंकि ऐसा प्रश्न ही निरर्थक है।

सम्भवतः आप लोगों के मन में यह विचार उठता होगा कि मैं एक सारवान् ऐसा प्रखर निबन्ध लिखकर ले आता, जिसे छपा

देने से सभापति का अभिभाषण बन जाता। किन्तु मैंने ऐसा नहीं किया। निबन्ध रचना करके नहीं लाया। इसका कारण यह नहीं है कि मैं लिख नहीं सकता, अथवा लिखने के लिए मुझे समय ही नहीं मिला। निरर्थक और अकारण समझ कर ही मैंने यह काम नहीं किया। तो फिर, यह क्या है? मुझे मौखिक रूप से कुछ बोलने की शक्ति नहीं है, इसीलिए इस सभा में उपस्थित होने के अनति काल पूर्व दो-चार बातें लिख लाना मात्र है।

प्रश्न उठ सकता है कि इस सभा का लक्ष्य क्या है? इसका उद्देश्य क्या है? मेरी धारणा है कि लक्ष्य केवल यही है कि यह हमारा उत्सव है, यह हमारे आनन्द का अनुष्ठान है। हमारा आगमन यहाँ ज्ञान-लाभ के उद्देश्य से नहीं हुआ है, हम युक्ति-तर्क की बुद्धि और पाण्डित्य अवलम्बन करके यहाँ समवेत नहीं हुए हैं। साहित्य-चर्चा का क्षेत्र और जहाँ भी क्यों न हो, यहाँ तो वह नहीं है। आज यही बात मेरा हृदय कह रहा है। इसी कारण मैं आया हूँ। उत्सव का मन लेकर, मैं आया हूँ, हृदय के आदान-प्रदान से परस्पर का सुनिविड़ परिचय लेने आया हूँ। यह उपलक्ष्य न उपस्थित होता तो शायद किसी दिन आप के जिले में आने का सौभाग्य मुझे न प्राप्त होता; आप लोगों के सौजन्य, आप लोगों की सहृदयता और आप लोगों के आतिथ्य का स्वाद ग्रहण करने का सुअवसर मेरे भाग्य में न आने पाता। यही है हमारा परम लाभ, यही है हमारी आज की सभा की सार्थकता। और भी एक बात मुझे आज बारम्बार याद पड़ती रहती है। हम हैं मातृभाषा के सेवक—साहित्य के इस पुण्य-मिलन-क्षेत्र के अतिरिक्त और किस सभास्थल में हम हिन्दू-मुसलमान भाई बहनों को एक ही आसन पर बैठकर वार्तालाप का सुयोग्य प्राप्त हो सकता था?

एक और बात कहना बाकी है। वह है आन्तरिक कृतज्ञता व्यक्त करना, जो मेरा कर्त्तव्य है। मुझे जो गम्भीर आनन्द प्राप्त हुआ, मेरे मन को जो तृप्ति मिली उसे खुले कण्ठ से व्यक्त करना। किन्तु मेरे पास तो एक ही मुख है, उसकी शक्ति सीमाबद्ध है। क्षोभ की इस बात को व्यक्त करके मैं बिदाई ग्रहण करता हूँ।

नयी रचना

'तुम्हारी नाक बोल रही है। कैसी आवाज तुम्हारी नाक से निकल रही है'—कह कर यदि किसी पुरुष को जगा दोगे, तो वह लज्जित होकर कुछ घबड़ाहट में पड़ जायगा और करवट बदल कर सो जायेगा। मुँह से अपनी यह त्रुटि वह स्वीकार नहीं करता। शायद मन ही मन कुछ क्रुद्ध भी हो जाता है। और दो-चार मिनट के बाद ही करवट बदलने पर भी, पहले जैसा कर रहा था, फिर करवट बदल कर भी वही करने लगता है अर्थात् नाक बजाने लगता है। यही है पुरुषों का स्वभाव।

किन्तु स्त्रियाँ तो एकदम मारने को दौड़ पड़ती हैं। शपथ पूर्वक कहती हैं, "कभी नहीं। कोई कुछ भी कहे, यह दोष मुझमें नहीं है, मेरी नाक कभी बोल ही नहीं सकती।" इसके बाद फिर तर्क करना निष्फल हो जाता है। वैसा करने से झगड़ा खड़ा हो जाता है—और कुछ नहीं होता। "निद्रा की अवस्था में थोड़ा सा शब्द करके साँस ले रहे थे," कह देने से कोई भयंकर निन्दा नहीं होती, यह बात कोई स्त्री दूसरे के सम्बन्ध में जितना ही क्यों न समझे अपने सम्बन्ध में वह नहीं समझ पाती। यही है उसका स्वभाव।

इस कारण, मेरा वक्तव्य यदि उनके लिए अबोध्य ही रह जाय, तो इससे मुझे कोई विशेष आश्चर्य न होगा। इसीकी बराबरी की एक और बात है—वह है अनुकरण करना। पहला है शरीर का

धर्म, दूसरा है मन का। इस कारण इच्छा न रहने पर भी, जिस तरह नाक बोलती है, इच्छा न रहने पर भी उसी तरह अनुकरण करना होता है। नाक बोलना—जैसे इच्छापूर्वक नाक बोलने का बोध नहीं होता, उसी प्रकार 'अनुकरण करना' कहने से इच्छा पूर्वक वैसा करने का अर्थ नहीं भी हो सकता। फिर भी नाक बोल रही थी—कहने से हम खुश नहीं होते। हम क्यों अनुकरण कर रहे थे? इतना दिखा देने की कृतज्ञता से हमारा हृदय भर नहीं जाता। यह सब मैं जानता हूँ, किन्तु जरा सतर्क होकर करवट बदल कर सो रहना क्या उचित नहीं है? अब यदि यह बात उठ जाय कि इन दोनों में से किसी के भी ऊपर सचमुच ही हमारा कोई वश नहीं है, और हम इच्छा पूर्वक यह काम नहीं करते, और ये तो शरीर और मन की अति स्वाभाविक क्रिया मात्र हैं, तो फिर लज्जा अनुभव क्यों करें और इसके लिये लज्जित ही कौन करता है! अवश्य ही लज्जा अनुभव करना, न अनुभव करना दूसरी बात है, किन्तु लज्जित करने का अधिकार उसको तो है ही जो व्यक्ति उस समय तक भी जाग रहा है, और नाक की आवाज के पीड़न से विश्राम करने का अवसर नहीं पा रहा है। इस कारण मैं अपनी इच्छा से यह नहीं कर रहा हूँ आदि कह देने से ही संसार में सब बातों की जवाबदेही नहीं हो जाती। यह बात उसको बता देने की जरूरत है, जो सो रहा है और जो मनुष्य नकल करने के काम में एकदम निमग्न हो रहा है। इच्छा से हो, अनिच्छा से ही हो श्वास-प्रश्वास की प्रचलित प्रथा को अतिक्रमण कर देने से भी लोग नाराज होते हैं और अच्छी बात का अनुकरण उचित और स्वाभाविक होने पर भी उसकी निर्दिष्ट सीमा को लाँघ जाने से भी लोग निन्दा करते हैं।

अच्छी बात का अनुकरण न करना चाहिये, ऐसी बात कहने

का अधिकार निश्चय ही किसी को नहीं है। किन्तु, 'अब नहीं,—रुको बन्द करो!' यह बात कहने का अधिकार समाज के लोगों को अवश्य ही है। इसका एक उदाहरण देता हूँ—

मिसेज विश्वास की पोशाक की काट-छाँट बहुत ठीक है। वैसी ही पोशाक से अपने को सुसज्जित करने में कोई दोष नहीं है, किन्तु उनकी कमर का घेरा शायद सवा तीन हाथ है। उनके गाउन में साढ़े दस गज कपड़ा लगता है। हूबहू नकल करने की धुन में अपने सूखे शरीर में ठीक वही साढ़े दस गजी गाउन लपेट कर रास्ते में निकल पड़ने से लोग जरूर ही उन पर हँसेंगे! अच्छी चीज का अनुकरण करने में तत्पर होकर तुमने अच्छे काम का ही प्रारम्भ किया था, यह तो मान लेता हूँ, किन्तु अनुकरण के नशे में ऐसे चूर हो गये कि, अपने शरीर की तरफ भी एक बार नजर उठाकर तुमने नहीं देखा! इससे तुम्हारा नकल करने का सदुद्देश्य ही केवल निष्फल हो गया, ऐसी बात नहीं है। तुम्हारा अपना सौन्दर्य भी समाप्त हो गया। तुम्हारे कपड़े का दाम और उसका परिश्रम भी नष्ट हो गया। रास्ते के लोगों की वाहवाही तो घलुआ है। रवि बाबू की रचना खूब अच्छी है। उनकी नकल करने की इच्छा भी स्वाभाविक है, और करने की चेष्टा भी साधु है। किन्तु, एकदम रविबाबू ही बन जाऊँगा, ऐसी प्रतिज्ञा करने से कैसे काम चलेगा? यह देख लेना उचित है कि, तुम्हारे शरीर पर वह साढ़े दस गजी गाउन सर्कस के कार्यकर्ताओं की ही तरह शोभा दे रहा है। उनकी रचना का दोष कहो, या गुण ही कहो। पढ़ने से ही भान पड़ता है कि, यह तो बहुत ही सहज है। लिखने की चेष्टा करूँ तो मैं भी ऐसा लिख सकूँगा। उनकी उपमाएँ ऐसी स्वाभाविक और सरल हैं कि, उनको देखने से ही मालूम होता है, या:—इसे तो मैं भी जानता हूँ—उपमा देने की जरूरत पड़ने से ठीक ऐसी ही उपमा मैं

भी दे सकता हूँ। किन्तु, भ्रान्त अनुकरण प्रथा सी लोग समझ ही नहीं सकते कि, कोहेनूर की नकल नहीं होती। असल हीरे को पा लेने से सात पुश्त तक राजा के बैठकखाने में बैठकर जिन्दगी बिता सकते हैं, नकली चीज के दाम से एक वक्त का बाजार-खर्च भी नहीं चल सकता।

रवि बाबू जैसे कुछ शब्दों का व्यवहार करते हैं, उसी प्रकार के शब्दों का व्यवहार करके, उनकी उपमाओं का व्यवहार करके और लिखने की उनकी प्रणाली का अनुकरण करके, आज कल के कुछ साहित्य सेवक—स्त्री पुरुष सभी—अपनी रचनाओं में कैसी विकृति ला रहे हैं, उसे देखने से क्लेश ही होता है। वे—जिनलोगों के गुरु हैं, उनका यही कर्तव्य है कि उनको समझने की चेष्टा करें, उनके प्रति श्रद्धा रक्खें। भीतर ही भीतर वे उनके प्रति श्रद्धा रखते हैं या नहीं, यह तो मैं निश्चित रूप से नहीं कह सकता, किन्तु बाहरी तौर से नकल नवीशी की चोट से गुरुजी की हड्डी तक स्याही बन जाने की दशा को पहुँच गयी है यह बात तो मैं डंके की चोट पर कह सकता हूँ। वे बेचारे ज्योंही कहते हैं व्याघ्र! त्योंही उनके भक्तगण दौड़ते हुए आ जाते हैं और दोनों हाथों को हिलाकर समझा कर कह जाते हैं—अर्थात् शार्दूल। दो एक बातों की मैं नजीर दे रहा हूँ। अवश्य ही पुरुषों की बात मैं नहीं कहना चाहता। उनकी बात, वे ही लोग कहेंगे—और कभी-कभी कुछ लोग कहते भी हैं, किन्तु वहीं तक। वही दायीं करवट और बायीं करवट। मैं केवल दो-चार महिला सरस्वतियों की बात का उल्लेख करके ही चुप हो जाऊँगा।

आजकल बड़ी लेखिका बनने वाली स्त्रियों में श्रीमती आमोदिनी घोष जाया, अनुरूपा और निरूपमा देवी का नाम प्रायः सभी जानते हैं। इनकी अनेकानेक गद्य-पद्य रचनाएँ किसी भी मासिक पत्रिका

को हाथ में लेने से दिखाई पड़ती हैं। आज मैं इनके सम्बन्ध में कुछ कहूँगा। सुनता हूँ कि श्रीमती घोष जाया की रचना पढ़ने से बहुतों को रविबाबू की रचना पढ़ने का भ्रम हो जाता है। अवश्य ही ऐसा भ्रम होने का कारण भी है।

मैं पहले भी कह चुका हूँ, रवि बाबू का सच्चा अनुकरण जितना ही कठिन क्यों न हो, उसे विकृत करना बहुत ही सहज है। वह और कुछ भी नहीं है—निम्नलिखित तालिका को कण्ठस्थ कर लेने से काम चल जायगा। यदि कण्ठस्थ करने में कठिनाई हो, तो बड़े-बड़े अक्षरों में लिखकर अपनी मेज के सामने टाँग दें, और जब कुछ लिखने लगें तब, कहीं-कहीं, उनमें से चुन-चुन कर कुछ शब्दों को प्रयोग करें। बस आप का काम बन जायगा। हरि की लूट का बताशा धोती के अग्रभाग पर गिर पड़े या जमीन पर गिर पड़े, वह निष्फल न होगा।

अब आप कण्ठस्थ कीजिये—परिणति, विश्व, मानव, देहान्दय, भूमिष्ठ, गरिष्ठ, मुखर, चाहिये ही, वनस्पति, जरूरत पड़ी है, धोखा, दैन्य, पुष्टि-साधन, देवता, अमृत, श्रेय, भूमा, आशीर्वाद, अर्घ्य, आवहमान काल, श्रेष्ठ, वाणी, खोटी, भारतवर्ष, निष्ठा, जाग्रत, जन्मस्वत्व, दिन आ गया है, तपश्चर्या, वैराग्य, श्रद्धा, छोटा, पतला, घुलाहट हुई है, मुक्ति का आनन्द और त्याग का आनन्द। बस इतना ही शब्द यथेष्ट हैं। अपनी एक रचना में इन सभी का व्यवहार कर सको तो ठीक ही है, यदि न कर सको तो भूमा, अर्घ्य, देवता, वैराग्य और भारतवर्ष ये पाँच शब्द तो अवश्य ही होने चाहिये। अन्यथा रचना ही नहीं हो सकती। अब यदि किसी को विश्वास ही न हो, और वह कहे कि, ऐसा क्या हो सकता है? शब्दों को यथेच्छा रूप से जहाँ भी हो जोड़ देने से लोग पकड़ ही

लेंगे ! इसके उत्तर में नजीर देने के अतिरिक्त और कोई उपाय ही मेरे लिए नहीं है।

विगत अगहन की 'भारती' में श्रीमती आमोदिनी घोष जाया का आठ पन्नों का एक निबन्ध प्रकाशित हुआ था। शीर्षक था "मनुष्यत्व की साधना।" शीर्षक देखते ही 'बाप रे!' कहकर चीख उठने से तो काम न चलेगा। भक्तिभाव से उसे पढ़ना चाहिये। मैंने अपनी तालिका में जिन शब्दों का व्यवहार किया है, उनमें से प्रायः सभी शब्द उसमें हैं। इस कारण वह बहुत अच्छा निबन्ध है और शिक्षाप्रद भी, किन्तु शब्दकोश की सहायता से पूरा पढ़ लेने के बाद यदि अन्त में कोई कह दे कि इन आठ पन्नों में तो आठ पंक्तियों का भी कोई अर्थ नहीं होता, तो उस हालत में मैं चुप तो जरूर रहूँगा, किन्तु स्वीकार न करूँगा, और मन ही मन क्रोध करके कहूँगा, तो भी तुमको शिक्षा तो हो गयी! जो भी हो, मैंने नजीर देने की बात कही है, किन्तु मैंने यह नहीं कहा कि समालोचना करूँगा। समालोचना करना निरर्थक श्रम है। मैं कहूँगा कि तुम्हारी रचना का अर्थ नहीं निकलता, तुम कहोगे—"क्यों नहीं अर्थ है।" मैं कहूँगा, "इस स्थान में तुमने बहुत ज्यादती कर दी है।" तुम कहोगे, "जरा भी नहीं। ऐसा न करने से यह लेख ही ठीक न बनता।" मैं कहूँगा, "इस स्थान पर कुछ और स्पष्ट कर देना उचित था।" तुम कहोगे "निश्चय ही नहीं। और स्पष्ट करने लगते तो आर्ट ही मिट्टी में मिल जाता।" वास्तव में इन सब तर्कों की कोई मीमांसा नहीं होती। इसी को लेख कहते हैं, और इस विवेचना के ऊपर ही लेखक की यथार्थ सफलता निर्भर करती है। समालोचना करके तथा दोष गुण दिखाकर निन्दा या प्रशंसा जरूर की जा सकती है, किन्तु इससे और कोई काम नहीं बन सकता।

जो भी हो, मैं जो कुछ कहना चाहता था, वही कह रहा हूँ।

उक्त निबन्ध में श्रीमती घोष जाया कहती हैं, "भारतवर्ष अकस्मात् आज स्वप्न से जाग कर देख रहा है कि, जिस जनपद का मार्ग पकड़ कर वह जा रहा था, वह प्रकृत मार्ग नहीं है, वह माया सृष्टि मात्र है। अकस्मात् आज वह दिगन्त विलीन वाणी के भीतर विलीन हो गया।"

अवश्य ही यह भाषा है! जनपद का मार्ग दिगन्त विलीन वाणी में विलीन हो गया! मैं पूछता हूँ—रविबाबू ने क्या कहीं भी इस तरह 'वाणी' का श्राद्ध किया है? कुछ दिन पहले लेखिका ने 'विकाश' पत्रिका में एक दस-बारह लाइन की कविता में 'व्योम' के साथ मिलाने के लिए 'शशि सूर्य सोम' का उल्लेख किया था। कविता की बात मैं छोड़ ही देता हूँ। क्योंकि 'व्योम' का 'म' 'सोम' के अतिरिक्त और किसी से मिलना ही नहीं चाहता। 'शशी' को छोड़ देने से अक्षरों की कमी पड़ जाती है। किन्तु, जनपद का मार्ग, इसमें तो धनुष भङ्ग करने की तरह कोई प्रतिज्ञा नहीं थी कि, उस 'वाणी' के न मिलने से कोई मेल हा नहीं बैठता रहा हो। कवि को अंकुश दिखाने का निषेध है, यह मैं मानता हूँ, किन्तु जब तार्किक घर पर चढ़ाई करके कोई हाथ में लाठी लेकर मारने के लिए आ जाता है, तब भी आत्म-रक्षा की चेष्टा न करनी चाहिये यह बात तो मैं नहीं मानता। यह है 'काव्य!' किन्तु यह तो दार्शनिक निबन्ध है। दार्शनिक निबन्ध जब एक सौ रुपये की माँग रखता है, तब वह उन छोटे तीन अक्षरों का 'एक सौ' रुपया ही चाहता है, उसको नव निर्मित रजत मुद्रा देने लगें, तो वह हाथ पसार कर उसे ग्रहण नहीं करता। किन्तु असल बात यह है कि, 'वाणी' रविबाबू की रचना में है, इस कारण उसको लेना ही चाहिये।

यद्यपि नाटक-नावेल में बहुत दोष नहीं है, तथापि अनुरूपा ने 'पोष्यपुत्र' में लिखा है—"पथ में शब्द मुखर हो उठा" तब

'शब्द' शब्दायमान हो उठा कहना निश्चय ही उनका अभिप्राय नहीं था। किन्तु 'मुखर' शब्द का ठीक अर्थ भी तो उनको जान लेना चाहिये था। बलपूर्वक 'निर्लज्ज' अर्थ करने की अपेक्षा वरन् यही कह देना ठीक है कि, "मैं क्या करूँ, वह तो मुझे अवश्य ही चाहिये। वह महत्त्व का है इत्यदि।"

श्रीमती आमोदिनी एक और स्थान में लिख रही हैं—"क्षेत्र कर्षित होने पर शस्य दान करता है, पतित रहने पर कण्टक गुल्मों का आवास स्थान हो जाता है। इस कारण भारतवर्ष का नैतिक क्षेत्र भी आकर्षण से कण्टक गुल्मों से आच्छन्न हो उठेगा, यह कोई स्वभाव विरुद्ध बात नहीं है। वनस्पतियाँ इस कानन में पहले विद्यमान थीं, यह ठीक है किन्तु अब वे बल्मीक और लतास्तूपों से इस तरह ढँक गयी हैं कि, उन्हें अब पहचान कर निकाल लेने का शायद कोई उपाय ही नहीं रह गया है।" क्षेत्र और शस्य थे, अब कानन और वनस्पती भी आ गये। आने दें,—क्षेत्र मान लेता हूँ वन जङ्गल हो भी सकता है, किन्तु किसी भी शस्य को तो मैंने 'वनस्पति' होते नहीं देखा। इधर तो होता ही नहीं—उधर होता है या नहीं यह मैं नहीं कह सकता। उधर भी शायद नहीं होता, किन्तु वनस्पति तो जरूर चाहिये, किन्तु चाहने के पहले यह जान लेना उचित था कि वह चीज मटर, केराव की दाल नहीं है। इस महत का आश्रय पकड़ने को तत्पर होने पर अनुरूपा ने एक और स्थान पर लिखा है—"भूमा के साथ भूमिका, क्षुद्र के साथ महत् का यह जो योग है।" अर्थात् छोटी सी भूमि महत् भूमि के साथ संयुक्त हो रही है। 'भूमा' शब्द का व्यवहार करना आवश्यक है, इसे मैं अस्वीकार नहीं करता, किन्तु कौन क्षुद्र है, कौन महत् है, इस बात का पता लगाना क्या पुस्तक लिखने के पहले ही आवश्यक नहीं था?

सम्वत् १३१७ के आषाढ़ मास की भारती में 'प्राचीन भारत की पूजा' में श्रीमती घोष जाया ने लिखा है—"आत्म सम्मान के साथ आत्मदान की एक समता है, इस समता-संकट से बचने के लिए, भारतवर्ष की धर्मनीति आत्म-सम्मान को दूर रखती आयी है। फल जब पक जाता है, तब वह आप ही आप अठला की ढेंपो से अलग होकर गिर पड़ता है। पकाने के लिए उसे वृत्तहीन कर देने से, वह विकृत ही हो जाता है, परिणत नहीं होता।" मैं आज तक यह समझ न सका कि ढेंपी से अलग हो जाने की इस उपमा का योग किसके साथ है। मौलिक न होने पर भी स्वतन्त्र रूप से यह उपमा खूब अच्छी है, यह मैं स्वीकार करता हूँ, किन्तु आदि से अन्त तक की इस परिपूर्ण सुख्याति में वह किसकी भलाई कर रही है, यह मेरी समझ के बाहर का विषय है। "बबूल की तरह सर्व विसारी गुल्म" की भाँति 'अहं' वस्तु की बारम्बार निन्दा करके, उसे वर्जन कर प्राचीन भारतवर्ष ने जिस दिन विराट कार्रवाई कर डाली थी, और उसकी प्रत्येक जाति, उसका प्रत्येक वर्ण उसके विराट राजछत्र के नीचे स्थान पा रहा था, उस समय यह बलपूर्वक ढेपी से अलग होने वाले अपरिणत फल ने किस श्रेणी में प्रवेश करने को तत्पर होकर अन्याय कर डाला था, इस बात को समझ लेने का कोई भी रास्ता लेखिका ने नहीं छोड़ रक्खा है। उस दिन इस प्राचीन भारत की सुख्याति का कोई अन्त ही नहीं था, अकस्मात् इन दो-एक वर्षों में उसने कौन सा अपराध कर डाला है कि, घोष जाया महोदया ने 'मनुष्यत्व की साधना' का बहाना बना कर इस तरह आज उसकी भर्त्सना शुरू कर दी है? वे कह रही हैं—"कुछ भी न समझकर सूखे तौर से तोते की तरह कण्ठस्थ करना विद्याध्ययन नहीं है। यह कहना निश्चय ही अतिशयोक्ति ही है। आज कल शिशु शिक्षा में भी ऐसी मूढ़ नीति काम में नहीं लायी जाती।

किन्तु हमारा यह श्रद्धेय, पूज्यपाद ज्ञान गरिष्ठ भारतवर्ष अब भी अपने तीस करोड़ नर-नारियों को उसी प्राथमिक युग का प्रथम पाठ पढ़ा रहा है; गम्भीर मुख से सिर हिलाकर वह कह रहा है, "पूछने का कोई भी अधिकार तुम लोगों को नहीं है, आज्ञा पालक की तरह तुम लोग केवल आज्ञा पालन करोगे, यही तुम लोगों की मुक्ति का मूल्य है।"

ज्ञान गरिष्ठ भारत के इस ज्ञान का परिचय देकर बाद को वे कह रही हैं—"किन्तु प्राचीन भारत ने इस आपेक्षकता को बिलकुल ही नहीं अपनाया, नशे के झोंक से असाध्य साधना के परम उल्लास को उसने इस तरह वृहत रूप में देखा था कि जीवन के छोटे-मोटे कर्तव्यों की उसने एकान्त भाव से अवज्ञा ही की है।" प्राचीन भारतवर्ष ने नशा सेवन करके क्या किया था, और जीवन के छोटे-मोटे कर्तव्यों की एकान्त भाव से अवज्ञा की या नहीं यह तर्क मैं न उठाऊँगा। जब कि एक विदुषी ऐसी बात कह रही हैं, तब मैं मान ही लेता हूँ। किन्तु मैं पूछता हूँ, कि 'श्रद्धेय' 'पूज्यपाद' प्रभृति इन विशेषणों का कोई अर्थ भी है, या वे केवल विद्या का परिचय देने के ही लिए हैं। अपने पिता की किसी भूल का प्रतिवाद करने के लिए उनके मुँह के सामने खड़े होकर यदि कहा जाय, "हे मेरे श्रद्धेय पूज्यपाद ज्ञानगरिष्ठ पिता जी! तुम ताड़ी पीकर नशे के झोंक में पागलपन किस लिए कर रहे थे?" यह बात कैसी सुनाई पड़ती है? सुनता हूँ कि, कोई बाहर मार खाकर अपने घर आने पर किसी ने अपनी स्त्री से उछल कर कहा था—"हाँ, उसने कान तो जरूर मल दिये, किन्तु अपमान नहीं किया।" घोष जाया महोदया ने भी पूज्यपाद का अपमान नहीं किया है, केवल कान मल दिया है। जो भी हो, लिखने वाला हाथ तो यह जरूर है।

एक स्थान में Evolution theory की व्याख्या करके वे अन्त

में कह रही हैं—"प्रवृत्ति मार्ग का शासन मानकर, उसका खण्डन करके, जिन्होंने निवृत्ति मार्ग में आरोहण किया था, वर्त्तमान भारत मे उसके लुप्त पदाङ्क का फिर पुनरुद्धार न कर सकने के कारण अन्त भागशायी अवशिष्ट चिह्नों को एकान्त भाव से ग्रहण किया है, और वह उसको कृपण के धन की तरह जकड़े हुए है। उसके पीछे विस्तृत मुख वाला गह्वर अन्धकार में मुँह बाये हुए है, उसको केवल असम्भव प्रयास के द्वारा वह छिपा रखना चाहता है, किन्तु उसके पैरों के नीचे मिट्टी उसके भार से खिसकती जा रही है। इसकी तरफ उसकी जरा भी दृष्टि नहीं है।" अर्थात् 'अन्धकार गह्वर' 'असम्भव प्रयास', "पैरों के नीचे की मिट्टी खिसक जाना। इन बातों का प्रयोग करना ही पड़ेगा। क्यों? यह बताना निरर्थक है? किन्तु गड़बड़ा यह हो रही है कि अन्तभागशायी चिह्नों को जकड़े रहने के बीच इतना बड़ा गह्वर भी कैसे, किस मतलब से आ जाता है और पैरों के नीचे की मिट्टी भी किस कारण खिसक पड़ती है? उस गह्वर को केवल वही बेचारा नहीं देख सका है, ऐसी बात नहीं है, मुझे भी ताकने पर वह कहीं भी नहीं दिखाई पड़ता। एक और स्थान में शास्त्रों को ढेर के ढेर दोष देकर लिख रही हैं—"जीवन की अवस्था के भेदानुसार कर्त्तव्य और धर्म में प्रभेद उपस्थित होता है। पुरुष का जो धर्म होगा, वह नारी का धर्म नहीं हो सकता। इसके सिवा—यदि संन्यासी गृहस्थ का धर्म धारण करता है, तो वह संन्यासी धर्मभ्रष्ट हो जाता है, और गृहस्थ यदि संन्यासी के पथ का अनुसरण करता है, तो वह गृहस्थ भी धर्म से स्खलित हो जाता है। × × × जब लोक समाज में एक अनुभूति का स्पन्दनोच्छ्वास उपस्थित होता रहता है, तब विधान का दबाव डाल कर उसे विमर्दित नहीं किया जा सकता। जिस नदी का स्रोत गरज रहा है, उसकी ही तरह, वह पथ में पड़ने वाले प्रतिबन्धकों को

विध्वस्त करके पथ को उन्मुक्त करके अवतरण करती है। इस कारण गृहस्थों के संन्यासानुपन्थी होने के सम्बन्ध में प्रबल शास्त्र प्रतिषेधों के रहते हुये भी समाज में उसका प्रभाव लेशमात्र भी नहीं घटा है।"

मेरा विनम्र निवेदन यह है कि इस 'इस कारण' शब्द का अर्थ क्या है? समाज के जितने भी गृहस्थ हैं क्या सभी ने गृह त्याग कर वन में जाने का संकल्प कर लिया है? या छिपकर गेरुआ कपड़ा पहनते हुए पकड़े गये हैं? ऐसा होने से भय की बात तो अवश्य ही है, किन्तु अपने घरों में हम किसी में उन लक्षणों को नहीं देखते। कम से कम बड़े मालिक के सम्बन्ध में मैं तो शपथ खाकर कह सकता हूँ। आज इस 'इस कारण' शब्द में बहुत दिनों की एक बात मुझे याद पड़ रही है। एक बार गाड़ी ठीक करके रात को मैं घर जा रहा था। रास्ते में दायीं तरफ के खेत में किसानों ने पाट को धोकर सूखने के लिए उन्हें पसार दिया था। मुझे किसी तरह का भय न लग जाय, इस आशङ्का से हमारे नौकर पंचा ने कहा—"बाबू जी, दायीं तरफ नजर उठाकर देखिये। इस कारण कैसा पाट सूख रहा है।" उस दिन मुझे इतनी हँसी आयी जिसका कोई ठिकाना नहीं।

अभी बहुत-सी बातें कहने योग्य थीं। श्रीमती आमोदिनी शिक्षिता स्त्री हैं। सम्भवतः मैंने उनको गलत समझा है। किन्तु जो भी हो, जैसा मैंने उन्हें समझा, स्पष्ट ही वैसा कह दिया है। यदि आवश्यक हो, वे अपनी रचना का समर्थन स्वयं ही कर सकती हैं। किन्तु एक बात मैं कह देना चाहता हूँ। स्त्रियों की नाक बोलती हैं, यह मैं जानता हूँ, किन्तु बहुत जोर से बोलती है, यह सुन लेने से अन्य स्त्रियों को भी मानो लज्जा मालूम होने लगती है। भय यह होता है कि कोई पुरुष शायद चौंक उठेगा।

इसीलिए उत्कण्ठा से जरा निष्ठुर की ही तरह नींद तोड़ने की चेष्टा करता हूँ, तो उस चेष्टा में आन्तरिक मङ्गलेच्छा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रहता। जो भी हो, उनकी भाषा अति सुन्दर है, अति मधुर है, यह मैं निष्कपट ढङ्ग में स्वीकार करता हूँ। निश्चय ही प्रत्येक पंक्ति गभीर पाण्डित्य से परिपूर्ण है। बहुत मूल्यवान घड़ी के सुगठित कल-कब्जे की तरह उनके प्रत्येक शब्द विन्यास का आश्चर्यजनक कौशल देखकर मैं मुग्ध हो गया हूँ। घड़ी मूल्यवान हैं और चल भी रही है, किन्तु दोनों काँटों के न रहने से कवि पोप की तरह समय को ठीक पहचान लेने में असमर्थ हो गया हूँ।

अब मैं श्रीमती अनुरूपा और निरूपमा की रचना के सम्बन्ध में दो-चार बातें कहूँगा। यद्यपि मैंने श्रीमती अनुरूपा के "पोष्यपुत्र" का आदि भी नहीं पढ़ा है, अन्त भी नहीं पढ़ा है, केवल बीच के कुछ अध्यायों को ही पढ़ने का सुयोग मिला है, और इतनी थोड़ी पूँजी लेकर कुछ कहने को तत्पर होना भी विपज्जनक है, यह मैं जानता हूँ, किन्तु कहा जाता है कि बूढ़ों के लिए अधिक पूँजी की जरूरत नहीं पड़ती। इसीलिए ऐसी कुछ कहने जा रहा हूँ। इनकी भी भाषा अत्यन्त मधुर है यह मैं जानता हूँ। मेरी लड़की कह रही थी, इतना मधुर है कि मुँह का स्वाद ही भर जाता है। फिर निगलने की सामर्थ्य ही नहीं रहती। अच्छा, भाषा जैसी भी क्यों न हो, प्रायः ही उपमाएँ जानकारी के बिना ही लिखी गयी हैं, यह पढ़ने से ही मालूम हो जाता है। यह बात कहने की इच्छा मेरी नहीं थी। क्योंकि, इसी स्थान में तर्क उपस्थित होता है। ग्रन्थकार के प्रशंसक कहने लगते हैं—कहाँ बड़प्पन दिखा रहे हो। मैं जो कुछ भी क्यों न दिखाऊँ, वे लोग प्रतिवाद करके कहेंगे—कभी नहीं। यह है ह्यूमर, यह है विट, यह है आर्ट

इत्यादि। बड़प्पन हृदय में अनुभव किया जाता है, किन्तु विट् कहाँ अश्लील हो उठता है, आर्ट कहाँ अतिशयता में और लड़कपन में रूपान्तरित हो जाता है यह बात जिस उम्र में समझी जा सकती है, वह उम्र अभी लेखिका की नहीं हुई है। किन्तु, मुझे आशा है, किसी दिन यह दोष सुधर जायगा। किन्तु, जो भी हो, उपमा देने के पक्ष में उनके पास कोई अच्छी कैफियत नहीं है। इसलिए उदाहरण के रूप में दो-चार बातों का उल्लेखमात्र करूँगा।

वह एक स्थान में कह रही हैं—"निर्जन मार्ग से चलते-चलते अकस्मात् पैर के नीचे काट लेने को तैयार साँप को देख लेने से जिस तरह राहगीर काठ की तरह जड़ होकर खड़ा हो जाता है इत्यादि।" बात तो यही है! एक चिथड़ा या रस्सी का टुकड़ा देखने से उछल कर बैल किसकी गरदन पर जा गिरेगा, इसका कोई ठिकाना ही नहीं रहता। जड़वत् होकर ही वह कैसे खड़ा हो जाता है? फिर भी वह कोई जैसा-तैसा सर्प नहीं है, एकदम काट लेने को तैयार साँप है! इन्होंने जो यह नहीं लिखा कि, रसोईघर में अकस्मात् जलती हुई आग की चिनगारी पैरों से रौंदकर रसोईदारिन जैसे अवाक् होकर मुँह बाये खड़ी हो जाती है—यही परम सौभाग्य की बात है!

एक अन्य स्थान पर वह लिख रही हैं—"दीप्त सूर्य लोक पर बादल के आ पड़ने से जैसे वह एक ही क्षण में म्लान हो जाता है, शिवानी का मुख उसी तरह एक क्षण में अँधेरा हो चला।" यह अलङ्कार है या उपमा है? किन्तु दीप्त सूर्यालोक के ऊपर बादल के आ पड़ने से क्या होता हो? सफेद दिखाई पड़ता है। किन्तु लेखिका ने जो म्लान कहा है, इसी कारण अन्धकार मुख के साथ सूर्यालोक पर पड़ने वाले बादल की तुलना करने का उनको अधिकार प्राप्त हो गया है। क्या यही बात है? एक और स्थल में गहरे काले रङ्ग

के बादल के ऊपर बक आदि उड़ते देखकर उनके विचार में आया है मानो काले तारे उड़ते जा रहे हैं। काले बादल के नीचे बक क्या काले रंग के तारे की तरह दिखाई पड़ता है ? इसके सिवा काले रङ्ग का तारा भी क्या है ? रात के समय आकाश की तरफ देखने से किसी दिन भी तो काले रङ्ग के नक्षत्र हमें नहीं दिखाई पड़ते। और यदि आँखों का तारा भी हो, तो वह सफेद पदार्थ के मध्य भाग में रहता है। काले बादल के साथ उसकी समता भी कहाँ है ? प्रकृति देवी के ऊपर इस प्रकार के उत्पात और भी अनेक हैं—उनका प्रयोग जरा होश ठीक करके करना उचित था। क्योंकि, जिस बात की स्वयं जानकारी नहीं रहती, उसको प्रकट न करना ही बुद्धिमानी का काम होता है।

जो भी हो, मैंने सुना है कि, यह पुस्तक पाँच-छः सौ पृष्ठ की है। मैंने केवल पचीस-तीस पृष्ठ ही पढ़े हैं। जिन पृष्ठों को मैंने पढ़ा नहीं है, उनमें शायद अच्छी-अच्छी चीजें ही रह गयी हों। लड़की भी कह रही थी कि, पुस्तक ज्ञानगर्भित है। उसमें वेद, कुरान, बायबिल, रामायण, महाभारत, एथिक्स, मेटा फिजिक्स, रामप्रसादी, तन्त्र, मन्त्र, झाड़-फूँक, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, सब कुछ ही है। इसके सिवा हिन्दी, अंग्रेजी—कालिदास, शेक्सपियर, टेनीसन—जो कुछ भी सीखने की जरूरत है, एक ही पुस्तक में सब कुछ सुलभ है। बता नहीं सकता कि, अन्त में राजभाषा और Clerk's Guide है या नहीं ? अपनी छोटी नातिन के लिये इस पुस्तक की एक प्रति खरीदने का विचार कर रहा हूँ।

यदि मेरी राधारानी की बात ठीक हो, तो मैं और दो-चार प्रश्न करके ही चुप हो जाऊँगा। मैं पूछता हूँ कि, इतनी अत्यधिक धर्म-चर्चा किस लिए ? हिन्दू धर्म के इतने सूक्ष्म भेदों को यदि न दिखाते तो क्या हानि थी ? इसमें तो साधु-फकीरों की इतनी भीड़ है कि,

कदम बढ़ाने तक का कोई उपाय नहीं है। कहाँ खड़ा हो जाऊँ, किस तरफ जाऊँ, किसी महात्मा के शरीर पर पैर न पड़ जाय, इसी भय से प्राण जाने की घड़ी आ जाती है। इसके अतिरिक्त अंग्रेजी की भरमार और अँग्रेजी कविता का लम्बा कोटेशन भी है। यह बात भी सोचने की जरूरत थी कि, यह हैं बङ्गला उपन्यास, और उनकी अधिकांश बहने अंग्रेजी नहीं जानतीं। मैं अंग्रेजी स्वयं जानता हूँ, इसीलिए क्या सबको इसे जना देने की जरूरत है? सुनता हूँ, रवि बाबू भी अंग्रेजी जानते हैं, बङ्किम बाबू ने भी शायद अंग्रेजी सीखी थी, किन्तु वे लोग भी अपने नावेल में इस लोभ को संयत कर सके थे! इस स्थान में लोभ को सँभालना ही उचित था। अन्तःपुर निवासिनी स्त्री होकर भी सर्वतोमुखी पाण्डित्य के जोश से लोगों को आश्चर्य में डाल देने का स्पिरिट ही निन्दनीय है। अगहन की भारती में एक भले आदमी ने इस पुस्तक की समालोचना करते हुये लिखा है—"जहाँ-तहाँ अत्यधिक प्रकृति वर्णन करने से रस भङ्ग की तरह दोष उत्पन्न हो गया है। किन्तु मैं यह बात नहीं कहता। वरन् मैं कहता हूँ, दो-तीन पन्नों में परिपूर्ण प्रकृति वर्णन पढ़कर जो व्यक्ति कोई 'आइडिया' करना चाहता है, वही अरसिक है। यह बात गया में पिण्ड देने की तरह है। पुरोहित जी भी नहीं जानते कि, मैं क्या कहला रहा हूँ, यजमान भी परवाह नहीं करता कि, वह क्या कह रहा है। फिर भी, दोनों ही जानते हैं कि, काम होता जा रहा है और भूत छोड़ रहा है। जादू का खेल आपने नहीं देखा है? खिलाड़ी आँखों के भीतर से बतख का अण्डा निकालने के पहले भानुमती की व्याख्या शुरू कर देता है, यह बात वैसी ही है। यह समझना चाहिये कि, इस बार कोई आश्चर्यजनक चीज आ रही है। जो समझदार है, वही जानता है कि, इस बार अण्डा निकलेगा—मूर्ख नासमझ केवल हाथ पैरों का हिलाना देखने में ही

व्यस्त रहता है, और वह भानुमति की व्याख्या का अर्थ समझना चाहता है। मैं तो ३० वें अध्याय के प्रारम्भ में ही समझ गया था कि कोई नयी बात है।

लेखिका ने कृपापूर्वक पेट का दर्द दूर करने का मन्त्र तक भी सिखा दिया है।

—"राम लक्ष्मण सीते यान किष्किन्धार पथे।
साथे निलेन हनुमान आर सुग्रीव मिते।
सुग्रीव बलेन, मिते आमि मन्तर जानि,
पेटेर व्यथाय अव्यथा हये याय प्राणी।"

वास्तव में, लोगों के कुसंस्कार से हिन्दूधर्म की बहुत-सी अच्छी चीज़ें लुप्त होती जा रही हैं। किसी तरह भी ऐसा न होने देना चाहिये। श्रीयुक्त लालबिहारी दे ने, गोविन्द सामन्त को साँप का मन्तर सिखा दिया था। मैं भी पेट के दर्द का मन्तर जानता हूँ, यदि किसी का उपकार हो, इस विचार से यहाँ लिख रहा हूँ। अवश्य ही मेरा यह मन्त्र अव्यर्थ है या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता।

"पेट कामड़ानि पेट कामड़ानि,
भाल हबि त ह'
नहिले कामड़े कामड़े किं गरुबाहुर,
मेरे फेलछि!"

रोगी के पेट पर हाथ सहला कर तीन बार कहने की जरूरत पड़ती है।

अब मैं श्रीमती निरुपमा के सम्बन्ध में कुछ कहूँगा। निरुपमा की रचना को ठीक कहने में अत्युक्ति नहीं हो सकती। यह सहज, सरल और विनम्र है। 'पाण्डित्य की हुंकार' नामक कोई बात इनकी रचना में नहीं है। और इसमें स्टेज का आस्फालन भी कम

है। बातचीत की पद्धति बातचीत की ही तरह है। रचना में भूल नहीं है, यह नहीं कह सकते। भूलें किसकी रचना में नहीं रहतीं। यदि हम भूल को अपनी इच्छा से अपने पास न लावें, यदि सीधा रास्ता छोड़कर हम अनजान रास्ते में जाकर रास्ता न भूल जायँ, तो भूलों के रहने से ही वह कोई महा लज्जा की बात नहीं हो जाती। शरीर में कहीं घाव हो जाना एक बात है, और खुजलाकर घाव बना देना दूसरी बात है। एक से माया उत्पन्न होती है, और दूसरी से क्रोध करने की इच्छा उत्पन्न होती है—मुँह से यही बात निकलना चाहती है—ठीक ही हुआ है, जैसा काम वैसा ही फल! यदि तुम नहीं कर सकते तो जाते ही क्यों हो? निरूपमा ने यह दोष नहीं किया है। इस कारण इनकी भूल केवल भूल है, किन्तु उन लोगों की भूलें तो भूल हैं ही, वरन् और भी कुछ हैं। जो लोग सीधे मार्ग से चलकर भूल करते हैं, उनकी भूल किसी दिन सुधर जाती है, किन्तु जो लोग टेढ़े मार्ग से चलना चाहते हैं, किन्तु मार्ग पहचानते ही नहीं, उनका भविष्य अधिकतर विपज्जनक ही होता रहता है। श्रीमती अनुरूपा का 'अन्नपूर्णा मन्दिर' पढ़ते समय दो-चार सीधी भूलें नजर में पड़ गयी थीं। किन्तु इस समय वे अब याद नहीं पड़ रही हैं। किन्तु एक तो याद है, उदाहरण के रूप में उल्लेख कर रहा हूँ। एक स्थान में 'सन्तरण मूढ़ की तरह' न कहकर उन्होंने 'सन्तरणहीन मूढ़ की तरह' कह दिया है। यह समझने की भूल है। बङ्किम बाबू ने जिस तरह 'कृष्ण कान्तेर विल' के प्रारम्भ में 'इहलोकान्ते' न कहकर एकाधिक बार 'परलोकान्ते' कहा है—उसी तरह। किन्तु यह यदि रविबाबू का अनुकरण करना हो गया हो, तो उस हालत में यह अन्याय ही किया गया है। उन्होंने "सन्तरण मूढ़ रमेश सङ्गीत के घुटने भर जल में" इत्यादि लिखा है, 'सन्तरणहीन' नहीं किया है। जो

हो, यह गणना में आने योग्य ही नहीं है। किन्तु यह कर्त्तव्य में है, यह बात तो निश्चित ही है, जो न जानने की हालत में लिख दी गयी है। जहाँ सती ने अफीम और बेलाडोना दोनों का ही सेवन किया है तो एक है विष और एक है प्रतिषेधक। बेलाडोना विष से डाक्टर लोग 'मारफिन' इनजेक्ट करते हैं। इन दोनों विषों का एक साथ सेवन करने से अभागा रोगी बहुधा केवल मर ही नहीं जाता, ऐसी बात नहीं है, मरता भी है तो बहुत शीघ्र बहुत आराम से नहीं मरता। बड़ी देर से बड़े ही कष्ट से मरता है, लेखिका का अभिप्रायः अवश्य ही ऐसा नहीं था। इसके सिवा दुर्घटना की आशंका यथेष्ट थी। शायद मरता ही नहीं, शायद जलाने के समय आँखों से ताकने लगता। जो भी हो, जब कि निर्विघ्न रूप से कार्योद्धार हो गया है, तब फिर आलोचना की कोई जरूरत ही नहीं है। किन्तु बेलाडोना जुटाते समय मालिश की दवाई, डाक्टर, डाक्टर खाना, आदि बातें अनेक बार लायी गयी हैं। इसलिए कुछ जानकर लिखने से लेखिका को यह फिजूल की मिहनत न करनी पड़ती।

अब यहीं मैं समाप्त करता हूँ। अप्रिय बातें मैंने बहुत लिख डालीं। आशा करता हूँ, इससे अच्छा परिणाम निकलेगा। और यदि प्रचलित नियमों के अनुसार लेखक लेखिकागण यह कहकर सान्त्वना पाने की चेष्टा करें कि समालोचकगण स्वयं नहीं लिख सकते, इसीलिए द्वेष से निन्दा करते हैं, तब तो मैं निरूपाय हो जाऊँगा। किन्तु सभी समालोचक लिख ही नहीं सकते, और लिख नहीं सकते, इसीलिए दोष दिखाते हुए घूमते रहते हैं, इस बात पर भी विशेष आस्था रखना ठीक नहीं है।

नया प्रोग्राम*

शरत् बाबू ने रङ्गपुर में जो भाषण किया था, उसके उत्तर में चरखा को लेकर अनेक तर्क-वितर्क हो चुके हैं, और आज भी उनकी समाप्ति नही हुई है। पहले तो चरखा-भक्तों ने यह प्रचार कर दिया कि उन्होंने महात्मा जी की शिखा (चोटी) में चरखा बाँध देने का प्रस्ताव किया है। ऐसी अमर्यादाकर उक्ति उनके भाषण में नहीं थी, किन्तु यह कहने से होता ही क्या है—अवश्य ही थी। न रहती तो, फिर भक्तों की वेदना व्यक्त होने का सुयोग भी कैसे मिलता? किन्तु शरत् बाबू जब कि स्वयं नीरव है, तब मेरी तरह एक साधारण व्यक्ति के लिए वकालत करने को तत्पर हो जाना अनावश्यक है। मेरे अपने माथे पर शिखा का अभाव है। कोई पकड़ कर क्रोध के आवेश में उसमें चरखा बाँध देगा, यह भी सम्भव नहीं है। इस कारण इस तरफ तो निरापद अवस्था है। किन्तु अभिभाषण में केवल शिखा ही तो नहीं थी, चरखा भी था। इस कारण वैज्ञानिक प्रफुल्ल चन्द्र ढाका से द्रुतगति से मानभूम चले गये, और युवक-सभा के अधिवेशन में उन्होंने प्रतिवाद किया। यह तो ठीक ही हुआ। युवक-सभा की ही बात यह है। तरुण वैज्ञानिक बूढ़े साहित्यिक के तमाखू पीने के विरुद्ध घोर आपत्ति प्रकट कर लौट आये, सभी एक को धन्य-धन्य कह प्रशंसा

---

* शरत् बाबू ने 'परशुराम' छद्मनाम से यह निबन्ध लिखा था।

करने लगे और दूसरों को छिः छिः कह धिक्कारने लगे, तो भी यह आशा नहीं होता कि वे तीन कालों को पार करने के बाद अब इस अन्तिम काल में तमाखू छोड़ देंगे। इसके बाद शुरू हो गया प्रतिवाद का प्रतिवाद, फिर उसका भी प्रतिवाद। दो-एक अखबार खोल कर देखने से अब भी एक न एक बात नजर में पड़ ही जाती है।

किन्तु हम सोचते हैं कि शरत् बाबू ने आखिर कौन-सा अपराध किया? उन्होंने कहा था कि बङ्गदेश के लोगों ने चरखा ग्रहण नहीं किया है। इस कारण ग्रहण न करने के लिए यदि अपराध कुछ भी हो, तो वह इस देश के लोगों का ही है। निरर्थक उनके ऊपर क्रोध करने से लाभ ही क्या है? इस विषय में मेरी भी कुछ अभिज्ञता है। अपनी ही आँखों से मैंने देखा है। इस देश में चरखों के बारे में कैसी गड़बड़ी मच गयी थी। किन्तु प्रारम्भ से ही लोग गरदन टेढ़ी बनाकर पड़े रहे। स्वराज्य का लोभ, महात्मा जी की दुहाई, बन्देमातरम् की शपथ, किसी से भी वह टेढ़ी गरदन फिर सीधी न की जा सकी। जिसने भी लिया, उसी ने चरखे का दाम नहीं दिया। भाषणों के जोर से जिसको दल में लाया गया, उसने और भी विपद उपस्थित कर दी। नये उत्साह से पहले काम में मन लगा। फिर दस-पन्द्रह दिनों के ही बाद सूत के गुच्छे लाकर उपस्थित किये गये। उनके ऊपर नाम-धाम समेत लेबुल सटा दिया गया। इसलिए कि कहीं खो न जायँ। इसके बाद कहा गया—"एक साड़ी बुन दीजिये तो?"

कर्मियों ने कहा—"इससे कितनी साड़ियाँ तैयार होंगी?"

"नहीं होंगी? अच्छा, साड़ी की जरूरत नहीं है, धोती ही बुन दीजिये, किन्तु देखिये, पनहा छोटा न होने पावे।"

कर्मियों ने कहा—"इससे धोती भी नहीं बन सकती।"

"कैसे बनेगी ? अच्छा दस हाथ की भले ही न हो, तो साढ़े नौ हाथ तो जरूर होगी। उससे अच्छी तरह काम चल जायगा। अच्छा जाता हूँ।" यह कह, वह जाने को तैयार हो गया।

सभी कार्यकर्ता चिल्लाकर मुखभङ्गी बनाकर कहने लगे और यह समझाने की चेष्टा करने लगे कि "यह कोई ढकहिया मसलिन का कपड़ा नहीं है—यह है खद्दर। एक लच्छी सूत से यह काम नहीं हो सकता महाशय जी, एक दोरी सूत रहने से यह काम होगा।"

ये सब बातें बाहरी लोगों की हुई। किन्तु इसीलिए मैं यह नहीं कह सकता कि कार्यकर्ताओं में उत्साह-उद्यम अथवा खद्दर-निष्ठा का जरा भी अभाव था। प्रथम युग में मोटे खद्दर के भाव के ही ऊपर मुख्यतः Patriotism निर्भर करता था। सुभाषचन्द्र की बात याद पड़ती है।

वे देशी—शामियाना बनाने वाला कपड़ा पहन कर आते थे, जो बीच में सिला रहता था। समवेत प्रशंसा के मृदु गुञ्जन से सभा मुखरित हो उठती थी, और उस पहनने के वस्त्रों की कर्कशता, दृढ़ता, उनके दायित्व और वजन के आधिक्य की कल्पना कर किरण शङ्कर जैसे प्रमुख भक्तजनों की आँखों से भावावेश के कारण आँसू बहने लगते थे।

किन्तु....इस कपड़े से काम नहीं चला, मोटे कपड़े का युग आ गया। उस दिन कौन असली कार्यकर्ता है, कौन नकली है, यह तो एक झटके से पहचान लिया गया। जैसे, अनिलचरण—अपनी दीर्घ श्वेत देह को मोटे कपड़े में छिपाकर जब कठनही पहन खट्-खट् शब्दों के साथ सभा में प्रवेश करते थे, तब श्रद्धा और सम्भ्रम से उपस्थित सभी लोग आँखें बन्द कर सिर झुका

लेते थे। और जबतक वे सुखासीन न होते थे, तबतक कोई आँखें ऊपर उठाकर देखने का साहस नहीं करता था।

कैसा दिन था वह! "My only answer is Charka"— सिर झुकाये बैठकर सभी यही महावाक्य मन ही मन जपते रहते थे और सोचते रहते थे। अब तो अंग्रेजों की प्राण रक्षा न होगी, लंकाशायर में लाल बत्ती जला कर वहाँ के लोग अब मर ही जायँगे। आज अनिलबरण शायद योगाश्रम में बैठकर ध्यान मग्न हो, इसके लिए ही प्रायश्चित कर रहे हैं।

उन दिनों विदेशी कपड़ा कहने से ही मिल के कपड़ों का बोध होता था। कहीं का भी बना कपड़ा क्यों न हो, वह विदेशी ही कहलाता था। उन दिनों यदि कोई स्वदेश भक्त यह प्रतिज्ञा करके कि, मैं अपवित्र मिल का कपड़ा न पहनूँगा, दिगम्बर मूर्त्ति धारण करके भी कांग्रेस में प्रवेश करता था, तो ३१ दिसम्बर का मुँह देख किसी में भी सामर्थ्य नहीं थी कि कोई ऐसी वैसी बात कह दे।

रवीन्द्रनाथ ने लिखा था—The programme of the Charka is so utterly childish that it makes one despair to see the whole country deluded by it.

उस समय किस कारण कवि ने इतना दुःख व्यक्त किया था, उसका कारण आज हम समझ सकते हैं। किन्तु अब तक भी सब का वह मोह दूर नहीं हुआ है—प्रायः उसी तरह अक्षय ही बना हुआ है, इसके भी बहुत से निदर्शन भाषणों में, निबन्धों में और अखबारों के पन्नों पर दिखाई पड़ते हैं। किन्तु इसके लिए दूसरा कोई उपाय नहीं है। क्योंकि, व्यक्तिगत भक्ति यदि अन्धी हो जाती है, तो उसके लिए फिर कहीं भी सीमा नहीं रह जाती। उदाहरण स्वरूप बङ्गदेश के एक बहुत बड़े खद्दर के आढ़तिये का उल्लेख किया जा सकता है। आश्रम तैयार करने के कार्यारम्भ से लेकर बकरी का

दूध पीने के कार्य तक सभी कुछ उन्होंने ग्रहण किया था—वैसी ही शिखा थी, कपड़े भी वैसे ही पहनते थे, उसी तरह चादर ओढ़ते थे, घुटनों को समेट कर वैसे ही बैठते थे, वैसे ही ज़मीन की तरफ नजर रख मृदु मधुर भाव से बातचीत करते थे। किन्तु इतना होने पर भी, सुनता हूँ कि अभी पूजा का उपचार पूरा नहीं हुआ है, सोलह कलाओं से हृदय भरा नहीं है। उपेन्द्रनाथ कहते हैं कि, अब वे अपने सामने दाँतों को निकलवा देंगे, ऐसा ही निश्चय वे कर चुके हैं। वास्तव में यह अनुराग अतुलनीय है, जान पड़ता है, मानो वैज्ञानिक प्रफुल्ल को भी इन्होंने परास्त कर दिया है।

किन्तु यह हुई उच्च श्रेणी की साधनापद्धति। सब लोगों का इस पर अधिकार नहीं हो सकता। जो लोग इस ऊँचे आसन तक नहीं पहुँच सके हैं, जो अभी निचली जगह में ही पड़े हुए हैं, उनकी भी चरखा-युक्ति यथेष्ट हृदय-ग्राही है। एक बात बारम्बार कही जाती है—चरखा चलाने से स्वावलम्बन उत्पन्न होता है। किन्तु यह बात क्या है, क्यों इसकी उत्पत्ति होती है, और चरखा घुमाते रहने से बाहुबल की वृद्धि होती है या उसमें और कोई गूढ़ तत्त्व निहित है? इन बातों को बारम्बार कहते रहने से भी यह सब भली भाँति समझ में नहीं आती। किन्तु मैं यह बात स्वीकार करता हूँ कि, स्वावलम्बन की धारणा सब लोगों की एक नहीं है। जिस तरह हमारे पुराण ने एक बार स्वावलम्बन का भाषण देकर अपने वक्तव्य को सुस्पष्ट करने के ध्येय से उपसंहार में Concrete उदाहरण देकर कहा था—"मान लो, तुम पेड़ पर चढ़कर गिर पड़ते हो, गिरते-गिरते यदि तुम हठात् एक डाल पकड़ सको, तो उसी हालत में जान लेना कि, तुमने स्वावलम्बन सीख लिया; तुम स्वावलम्बी हो गये।"

अवश्य ही ऐसी बात हो तो, विवाद उपस्थित होने का कोई

कारण ही नहीं है, किन्तु यह बात हुई सूक्ष्म विचार की। इसके स्थूल पक्ष की आलोचना बहुत जरूरी है। विशेषज्ञ बाबू राजेन्द्र प्रसाद की उक्ति की नजीर देकर प्रायः यह कहा जाता है कि, फुरसत के समय दो-चार घण्टे प्रतिदिन नियमपूर्वक चरखा चलाने से मासिक आठ दस या बारह आने की आमदनी बढ़ जाती है। गरीब देश में यही बहुत है। अवश्य ही यह गरीब शब्द अनापेक्षिक चीज नहीं है, यह एक तुलनात्मक शब्द है। Economics में marginal ncessity का उल्लेख है, वह जिस देश का शास्त्र है, उसी देश के लिए वह भली-भाँति समझ लेने योग्य विषय है। अपने देश में हम सभी गरीब शब्द का अर्थ समझ लेते हैं। इसके विषय में हम कोई तर्क नहीं करते, किन्तु प्रतिदिन एक पैसा, डेढ़ पैसा आय बढ़ जाने से किसान मजदूर भोजन की व्यवस्था कर, स्वास्थ्यवान हों, किस तरह अंग्रेजों को देश से निकाल बाहर करके, स्वराज की स्थापना कर सकेंगे, यह समझ लेना ज़रा कठिन है।

अनिलवरण कहते हैं—"चरखा, रुई, धुनने का झोला यह सब न बढ़ाकर अवसर की सुविधा के अनुसार दो-चार मुट्ठी घास काट लाने से मासिक दस-बारह आना अर्थात् दैनिक एक पैसा, डेढ़ पैसा की आमदनी की जा सकती है। वे कहते हैं कि इससे और भी उपकार हो सकता है। ए० आई० सी० सी० की एक मिटिंग बुलाकर जनता को franchise कर देने से भी लीडर लोगों को घास संग्रह के लिए गाँवों में जाना पड़ेगा। क्योंकि शहरों में घास नहीं मिलती। इस लिए इस प्रकार साधारण जनता से मिलने-जुलने से ग्राम संगठन का कार्य भी आगे बढ़ जायगा। कम से कम शहरों में मोटर दौड़ाकर लोगों को पहियों के नीचे दबाकर हत्या करने का दुष्कर्म भी कुछ कम हो जाने की सम्भावना है।

मेरा कथन यह है कि, अनिलवरण के प्रस्ताव को Due consi-

deration" देना चाहिये। रवीन्द्रनाथ विदेश से वापिस आ गये हैं। यह सुनकर शायद वे यही कहेंगे कि, यह भी Utterly Childish है किन्तु हम कहेंगे—कवियों में बुद्धि-समझ नहीं रहती, इसलिए उनकी बात हम न सुनेंगे। विशेषतः बारह महीनों में जब कि तेरह महीने वे विलायत में ही रहते हैं। देश का वातावरण वे कितना जानते हैं? चरखा-विश्वासी अहिंसक लोग हिंसा परायण अविश्वासी लोगों को धिक्कारते हुए प्रायः ही कहा करते हैं—"तुम-लोग चरखा चलाने की तरह सहज काम भी धीरज के साथ नहीं कर सकते, फिर तुमलोग देशोद्धार का काम कैसे करोगे?"

यह सुनकर लोगों का उत्साह फीका पड़ जाता है। शायद कुछ लोग सोचने लगते हैं, ऐसी बात हो भी सकती है। जब हम चरखा चलाने का सहज काम भी न कर सके, तो और क्या कर सकते हैं? किन्तु मेरा कथन यह है कि निराश होने का कोई कारण नहीं है। अनिल वरण की कार्य पद्धति को कम से कम एक वर्ष तक अपनाकर देखना चाहिये, क्योंकि यह और भी सहज काम है। चरखा खरीदना न पड़ेगा, सूत कातना सीखने की जरूरत न पड़ेगी, कपास की खेती न करनी पड़ेगी, बाजारों की शरण में जाना न पड़ेगा—इसमें कोई कठिनाई नहीं है, और पद्मा नदी की तटवर्ती भूमि के पास वाली जमीन मिलने से तो कोई बात ही नहीं रह जाती, घास काटने की जरूरत ही न पड़ेगी, पकड़ने के साथ ही घास अपने आप उखड़ जायगी! स्वराज तो अपनी मुट्ठी में ही है।

किन्तु अनिल वरण ने कहा है—"अविश्वासी होने से काम न चलेगा। आपत्तितः इस प्रथा में लड़कपन जितना ही मालूम हो, इस युक्ति में जितनी ही विपरीत बातें क्यों न मालूम हों, तो भी विश्वास करना ही पड़ेगा।"

एक ही वर्ष में Dominion Status अवश्यम्भावी है। जरूर

हो जायगा। यदि न हो? तो उसे जनता का अपराध समझना चाहिये, प्रोग्राम का नहीं। और तब अनायास ही हम कह सकेंगे—ऐसी सहज कार्यपद्धति को ग्रहण कर जिस देश के लोग उसे सफल न बना सके, उनसे किसी समय भी कोई काम नहीं हो सकता। असल बात है—विश्वास और निष्ठा। एक काम में जब सहूलियत नहीं हुई, तब दूसरे को अपनाना चाहिये। इसी प्रकार चेष्टा करते-करते ही एक दिन विशुद्ध प्रोग्राम हाथ में आ जायगा। जरूर आना पड़ेगा। अनिलबरण की जय हो! स्वराज का कितना सस्ता रास्ता आपने बता दिया।

अखिल भारतीय चरखा-संघ ने खबर भेजी है कि, बीस लाख रुपये के चरखे खरीद कर बाईस लाख रुपये का खद्दर तैयार हुआ है। उत्साह होने लगा है, सब लोग कहने लगे हैं—अब तो कोई चिन्ता की बात ही नहीं है, विदेशी कपड़ों का बहिष्कार होने में अब देर हो नहीं है। कलकत्ते में बड़ी कांग्रेस का अधिवेशन होने ही वाला था, सुभाषचन्द्र ने कहा—'खबरदार! मिल का सूत एक भी प्रदर्शनी में न आने पावे। यदि ऐसा सूत लाया जायगा, तो मेरा आना नहीं हो सकता।'

नलिनी रंजन सरकार विषयी जीव हैं। कितने धान से कितना चावल हो सकता है इसकी खबर रखना उनका पेशा है। उन्होंने चिढ़कर कहा—"यह कैसी बात है! विदेशी कपड़े का बहिष्कार करने की प्रतिज्ञा कर चुके हो, तो फिर अपने इस बाईस लाख से सत्तर अस्सी करोड़ का धक्का कैसे सम्हाल सकोगे?"

सेन गुप्त साहब ने वीरत्व व्यंजक दर्प के साथ कहा—"हम उतने ही खद्दर सैकड़ों टुकड़ों में खण्डित कर लंगोटी पहनेंगे। नलिनी रञ्जन ने कहा—"ठीक है, मैं जानता हूँ, किन्तु एक-एक सूत बाँट देने से भी तो सबका काम न चलेगा।"

सुभाष ने कहा—"कपड़े का बहिष्कार पीछे होगा, किन्तु महात्मा जी का बहिष्कार सहा नहीं जा सकता।"

किरण शंकर ने कहा—"ठीक है, ठीक है। महात्मा जी आ गये।"

नेताओं ने एक शब्द भी नहीं कहा, यह भय था कि, कहीं क्रोधित होकर वे स्वराज की कुँजी ही न रोक रक्खें! बङ्ग देश में जहाँ जितने आदमी थे उसके तपस्वी ताल ठोंककर नाचने लगे—कैसी बात है—करो प्रदर्शनी।

हम बाहरी लोग सोचते हैं, Complete Independence ठीक ही है! इसी कारण Dominion Status में इनका मन नहीं लगता। हम एक और बात सोचते हैं, यह अच्छा ही हुआ कि देशबन्धु स्वर्गधाम चले गये। इस सरकार का विवरण Your India के पन्नों पर उन्हें न देखना पड़ा।

मैंने सुना है, राष्ट्रीय महासभा कांग्रेस में इस बार नेहरू रिपोर्ट पास हुई है। बहुत तरह की छल-चतुरता से वह अरजी अन्त में विलायती पार्लमेण्ट में पेश की गयी है। आशा तो थी ही नहीं, किन्तु उस देश की पार्लमेण्ट, सुनता हूँ, अब स्त्रियों के आदेशानुसार तैयार हुई है। इस कारण अब वे ही एक तरह से भारत के भाग्य-विधाता हैं। प्रवाद चला आ रहा है कि, स्त्रियाँ करुणामयी होती हैं। शायद इस देश के अभागे पुरुषों पर उनकी कृपा दृष्टि पड़ जाय।

कानानाइट

'कानकटा' के ऐतिहासिक तत्त्व का निर्णय करते हुए 'साहित्य' नामक पत्रिका में एक निबन्ध प्रकाशित हुआ है। उसके लेखक हैं श्री ऋतेन्द्रनाथ ठाकुर। फाल्गुन मास (बंगला सं० १३१९) के अङ्क में उक्त निबन्ध को पढ़ लेने के पश्चात् उस सम्बन्ध में कुछ कहने की उत्सुकता होना स्वाभाविक प्रतीत हो रहा है। यह तत्त्व सच है या झूठ इस पर आलोचना करने के पहले मन में स्वतः एक सन्देह उठ जाता है—ठाकुर महाशय ने यह निबन्ध हास्य-विनोद उत्पन्न करने के ध्येय से तो नहीं लिखा है? क्योंकि यह सचमुच का सत्य का आविष्कार करने की चेष्टा है और यह यथार्थतः ही सच है, ऐसा मनोभाव लाने से भी दुःख होता है। किन्तु निबन्ध लिखने का उद्देश्य यदि हास्य उत्पादन करना हो, तो कहना पड़ता है कि उस निबन्ध को निश्चित रूप से सार्थकता प्राप्त हुई है। किन्तु, कोई दूसरा उद्देश्य यदि रहा हो, तो शायद यह प्रयत्न निरर्थक हो गया है और ऐसा होना ही कल्याणकर है।

जो भी हो, उक्त निबन्ध में ठाकुर महाशय ने कहा है—"कानकटा, कन्दकटा, या उड़ीसा की खोन्द जाति के लोग बायबिल में वर्णित 'कानानाइट' जाति के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं। इस "कुछ भी नहीं हैं" को प्रमाणित करने के निमित्त आपने इन दोनों जातियों में बहुत समता दिखाकर एक जाति तत्त्व का आविष्कार किया है। एक दिन मेरे एक आत्मीय ने कहा—'आज

न इस देश में सभी इतिहास और पुरातत्त्व के लेखक बन गये । सभी केवल झगड़ा खड़ा करना चाहते हैं—राम के जन्मगृह दरवाजा पूर्वमुखी था या पश्चिममुखी था, इसी तरह की निरर्थक तों की चर्चा चलती है, उनका कथन नितान्त असत्य नहीं है, ही देख रहा हूँ।

किन्तु, 'जातितत्त्व' नामक पदार्थ यदि केवल खिलौना होता, थवा शौक से दो-चार पुस्तकों के पन्ने उलट-पलट कर देख लेने ही यदि इसकी व्युत्पत्ति उत्पन्न होती, तो उस हालत में मुझे ह प्रतिवाद करने की आवश्यकता ही नहीं होती। किन्तु बात सी नहीं है। यह है सत्य का उद्घाटन, आमोदजनक छोटा-सा ल्प लिख देना नहीं है। इस कारण जातितत्त्व विद कहलाकर सिद्धि प्राप्त करने के पहले कुछ 'सालिड' परिश्रम की आवश्यकता । इसलिए, जिन अभागों ने बहुत दिनों से लगातार अपने शरीर बहुत से रक्त को जल में परिणत कर नीरस पुस्तकें ध्यान से ढ़ते-पढ़ते प्राण त्याग दिये हैं, उनके ही ऊपर इस कार्य का ार देकर, निश्चिन्त मन से सरस कविताओं और रसात्मक साहित्यिक नेबन्धों में या कहानियों में मनोनिवेश करना ही बुद्धि का कार्य । केवल दो-चार पुस्तकें इधर-उधर देखकर, और दो-चार समताओं ो ऊपर ही ऊपर मिलाकर, एक अभिनव सत्य का प्रचार कर ाकना साहस का परिचय है, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। किन्तु ऐसे साहस से कोई काम नहीं बनता, बिगड़ ही जाता है। तैसे उनकी देखादेखी मेरा निरर्थक काम बढ़ गया है, और जो अभागे इन्हें पढ़ेंगे, उनकी तो कोई बात ही नहीं है। यह ठीक है कि पुरुषों में साहस का होना अच्छा ही है। किन्तु वह कुछ कम रहे, तो और भी अच्छा है। जो भी हो, बात इस ाकार है।

ठाकुर महाशय ने उड़ीसा (कलिङ्ग) की खोन्दजाति और बायबिल में उल्लिखित कानानाइट जाति में पाँच-छः बातों में समता देखकर ही दोनों को सहोदर भाई समझ लिया है। किन्तु जहाँ समता नहीं है, उसके पास तक भी वे नहीं गये हैं। यह ठीक है कि असमता देखने के कार्य में असुविधाएँ हैं, और यह असुविधा भोग न करके भी कुछ न कुछ लिखना सम्भव है, यह भी ठीक है। किन्तु इसे सत्य आविष्कार नहीं कहते। जो कुछ कहा जाता है वह है 'पिकविक' पेपर का आरम्भ। इसके अतिरिक्त केवल समता देखकर ही किसी सिद्धान्त पर पहुँच जाना कैसा विपद् संकुल है, उसका एक साधारण उदाहरण दे रहा हूँ। अभी उस दिन की बात है कि चन्द्रग्रहण के अवसर पर घर के छोटे-छोटे बच्चे और बच्चियाँ थाल में जल ले मुँह बाँधे बैठी हुई थीं ग्रहण लग जाने पर उसे देखने की ही इच्छा से। अकस्मात् सास जी ने आकर बहू से कहा—"अरी बहू! कालीचरण तो पञ्चाङ्ग देखकर बता गया कि सात बजने के पहले ही ग्रहण लगेगा, सात तो बज ही गये। कुछ भी तो कहीं नहीं दिखाई पड़ता, जरा अच्छी तरह पत्रा देख लो तो!' मैंने देखा, पञ्चाङ्ग में लिखा है 'दर्शनाभाव'। मैंने कहा—'शायद ग्रहण लगेगा, किन्तु दिखाई न पड़ेगा।' सास जी ने विश्वास नहीं किया, और कहा—"यह कैसी बात कहती हो बहू! काली तो अच्छी तरह देखकर कह गया है 'दस आना भाव' अर्थात् ग्रहण दिखाई पड़ेगा, और तुम कहती हो—बिलकुल ही न दिखाई पड़ेगा? यह क्या कभी हो सकता है? दस आना भले ही न हो, आठ आना, आठ आना भले ही न हो, चार आना तो दिखाई पड़ना चाहिये ही।' कालीचरण को बुलाया गया। बहू ने आड़ में रहकर कहा—'मुनीम जी, पत्रा में दर्शनाभाव लिखा हुआ है, ग्रहण तो दिखाई न पड़ेगा।" कालीचरण ने हँसकर

कहा—"बहू जी, मालिक स्वर्ग को चले गये—वे कहा करते थे, इस गाँव में यदि कोई पञ्चाङ्ग देख सकता है तो वह है काली।' वही जिसको दर्शनाभाव कहते हैं, उसका ही नाम है 'दस आना भाव।' शुद्ध रूप से लिखने में वैसा ही लिखना पड़ता है। यह बहुत ही कठिन विद्या है बहू जी, पञ्चाङ्ग देखना जिसका-तिसका काम नहीं है।" बहू अवाक् हो गयी। रेफ का उल्लेख कर कहा—'श' के ऊपर वह लकीर खोंचे की तरह कैसी है। आ की मात्रा इधर न रहकर उस तरफ क्यों चली गयी है?" किन्तु कोई भी युक्ति सफल नहीं हुई। कालीचरण ने समता देख ली थी। वह डिगा ही नहीं। बल्कि और भी हँसकर बोला—"बहू जी, वे सब केवल देखने की बहार है। छापने वालों ने समझ लिया है कि उनको जोड़ देने से सुन्दरता बढ़ जायगी। क्या तुमने सुना नहीं है? लाग कहा करते हैं—मानो छापने वालों की विद्या है!" "यह सब कुछ भी नहीं है!" यह कह 'दर्शनाभाव' को दस आना भाव में सुप्रतिष्ठित कर जयोल्लास से हँसते-हँसते वह घर से निकल गया। तो भी, वह घर का गुमाश्ता था, व्याकरण तो उसने पढ़ा नहीं था। उस रात को यदि वह ठाकुर महाशय की तरह "र-ल-ड-ल्योरभेदः" सुना सकता, तो उस हालत में फिर मुँह दिखाने का कोई रास्ता ही नहीं रह जाता। जा भी हो, ये सब बातें घरेलू हैं। इनको न कहने से काम चल जाता, और इन्हें सुनकर शायद कालीचरण दुःख का अनुभव करता, किन्तु साधारण रेफ को तुच्छ बना देने से 'दर्शनाभाव' भी दस आना भाव में परिणत हो जाता है, यहाँ तक कि समता के जोर से 'र-ल-ड-की सहायता से एशिया माइनर की कानानाइट जाति भी कलिङ्ग की 'कानकटा' जाति में सोलहोआने रूपान्तरित हो जाती है। यही तुच्छ बात आज ठाकुर महाशय के सम्मुख निवेदन रूप में रखने की इच्छा उत्पन्न हुई है।

अतः यदि कोई पाठक जिद से यह पूछने लगे कि दस आना तो समझ सकता हूँ किन्तु सोलह आना क्या है? उसका अर्थ इस प्रकार होगा।

उक्त निबन्ध में ठाकुर महाशय प्रारम्भ में ही कहते हैं--"पाठक सुनकर आश्चर्य में पड़ जायेंगे कि इन कानानाइट लोगों के साथ (उड़ीसा के) कानकटा लोगों का घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान है" (दस आना भाव) उसके बाद ही कहते हैं—"कानानाइट इस्राइल प्रवासी 'कानकटा' के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं।" (यही सोलह आना भाव है)। पाठकगण पूर्णरूप से आश्चर्य में पड़ जायेंगे। इसे उन्होंने ठीक पकड़ लिया है। यहाँ तक कि चन्द्रग्रहण वाली रात से भी अधिक। जो भी हो, इस सोलह आना के पक्ष में ठाकुर महाशय कहते हैं—'इन दोनों के देवता लोगों में, दोनों के आचार-विचारों और दोनों की प्रथाओं में आश्चर्यजनक समता है। दोनों जातियों के आचार विचार और उनकी प्रथाओं, देव-देवियों इत्यादि सभी विषयों की आलोचना करने से स्पष्ट ही समझ में आ जाता है कि 'कानानाइट' और 'कानकटा' ये दोनों ही एक ही जाति के प्राणी हैं।....पहले यही दिखा रहा हूँ कि इनके देवताओं और इनकी नरबलि प्रदान वाली प्रथा में किस हद तक समता है। भारत के 'कानकटा' या 'कन्धकाटा' लोग यद्यपि विविध देव-देवियों की उपासना करते हैं, तो भी, उनके सर्वप्रधान देव (देवी)— भूमि की उर्वरा शक्ति के देवता या भू-देवी 'तारी' या 'ताड़ी' है। भूमि की उर्वरा शक्ति इसी देवी के ऊपर निर्भर करती है, ऐसा ही उनका विश्वास है। इस देवी के सन्तोष के लिए ही विशेष कार्यों में वे नरबलि या शिशुबलि देने में प्रवृत्त हो जाते हैं।"

इन दोनों जातियों के देवता एक ही हैं, यह दिखाने के लिए

ऋतेन्द्र बाबू ने लिखा है—"कानानाइट लोगों के भी देवी-देवता—उर्वरा शक्ति के ही देवी-देवता हैं। Their Chief deity Ashtarl the goddess of fertility." "कन्ध लोगों की भू-देवी 'तारी' या 'ताड़ी' (Tari) और कानानाइट लोगों की देवी Ishtar (स्टार) या Astarte (आसटार्टे) ये एक ही शब्द के विभिन्न रूप मात्र हैं, केवल देश-भेद और उच्चारण-भेद से सामान्य अन्तर उत्पन्न हो गया है। जैसे, संस्कृत 'तार' या 'तारका' शब्दों के पहले 'S' युक्त होकर Star बन जाना दिखाई पड़ता है, उसी प्रकार इस 'तारी' शब्द के भी पहले 'S' या 'As' युक्त होकर Istar या Astarte के रूप में परिणत हो गया है। उच्चारण के समय 'ट' और 'ड़' में विशेष फर्क नहीं है।" इत्यादि इत्यादि, क्योंकि "र-ल-ड-ल्योरभेदः।" पहले इस देवी की आलोचना आवश्यक है। एकता जो कुछ भी है, उसे वे ही दिखा चुके हैं, अनैक्य कहाँ है, यही बता देना आवश्यक है।

ऋतेन्द्र बाबू ने ज्योंही 'उर्वरा शक्ति' देख ली, त्योंही उन्होंने दोनों को एक बना डाला। किन्तु उर्वरा शक्ति का अर्थ क्या केवल जमीन की ही उर्वरा शक्ति होती है? नारी की जो शक्ति सन्तान प्रसव करती है उसे क्या कहते हैं? उनकी बात वहीं तक सच है कि, दोनों ही जातियाँ उर्वरा शक्ति की पूजा करती थीं, किन्तु 'कानानाइट' लोग जिस उर्वरा शक्ति की पूजा करते थे, वह भूमि की नहीं है, वह है नारी की, क्योंकि जिस चिह्न (Symbol) के द्वारा 'आसटार्टे' देवी को प्रकट किया जाता था, और जिस कारण से देवी के मन्दिर में 'Temple prostitution' प्रचलित था, और जिस कारण "The licentious worship of the devotees of Astarte in her temple in Tyre and Sidon rendered the names of theie cities synnymous with all that

was wicked" वह भूमि की उर्वरा शक्ति हो ही नहीं सकती। पुरातन धर्म विषयक इतिहास-पुस्तकों में से किसी को भी खोलकर देखने से ही पता चल जाता है कि, Astarte की तुलना Venus देवी के साथ की गयी है। जैसे—Astarte the Syrian Venus वीनस भू-देवी नहीं हैं। और भी एक बात है, इन खोन्दों की ताड़ी देवा की तरह कानानाइट लोगों की आसटार्ट सर्वश्रेष्ठ देवी नहीं थीं। यह 'बाल' देवता की पत्नी के रूप में ही पूजा पाती थीं। देश में जितने 'बालिग' थे उतनी ही 'आसटार्ट' थीं। यहाँ तक कि, इस देवी को किसी-किसी स्थान में 'शेम्बाल' तक भी कहा गया है। 'शेम्बाल' का अर्थ है बाल देवता की छाया। यह क्रमशः बहुत से नामों से पुकारी गयी थीं। बायबिल में 'आल्टारथ' कहा गया है। आलेन साहब ने एक स्थान में कहा है—"The Astarte given to Hellas under the alias of Aphrodite came back again an Aphrodite to Astarte's old Sanctuarics."

किन्तु इसका प्राचीन नाम था 'आशेरा'। इस कारण यदि 'ताड़ी' के साथ किसी का सम्बन्ध रहना चाहिये तो इस आशेरा का ही, आसटार्ट का नहीं। मैं व्याकरण की विशेष जानकारी नहीं रखता। यदि जानकारी रहती तो इस 'आशेरा' शब्द को 'र-ल-ड के' जोर से 'ताड़ी' बना ही देता, इसका आश्वासन तो मैं जोरदार शब्दों में पाठकों को नहीं दे सकता। इसके बाद है नरबलि का प्रसङ्ग। संसार की जो प्राचीन जातियाँ भू-देवी की पूजा करती थीं, और उनको प्रसन्न करने के लिए नरबलि देती थीं, उनका परिचय कहीं भी 'आसटार्ट' देवी के नाम से नहीं मिलता। उनमें उनके भक्त 'कानानाइटों' को भी मैं नहीं देख पाता। यदि ऐसा परिचय मिल भी जाता तो मैं यह नहीं समझता कि उससे ऐसी कोई बात प्रमाणित होती कि खोन्द और कानानाइट एक ही धर्म के कानून और आईन मानकर

चलते थे। दक्षिणी अमेरिका के आदिम अधिवासी गण जमीन में बीज बोने के दिन नरबलि देते थे। "Conceiving the maize as a personal being who went through the whole course of life between seed time and harvest, Sacrificed new baorn babies when the maize was sown, older children when it had sprouted and so on till it was fully ripe when they Sacrificed old men."

प्राचीन मैक्सिको के अधिवासी पाउनी लोग भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाने के लिए प्रति वर्ष नरबलि देते थे। दक्षिणी अफ्रीका के प्राचीन काङ्गो की रानी भी बलि देती थी "Usedto Sacrifice a man and woman in March, they were killed with spades and hoes."

गिनी प्रदेश के अनेक स्थानों में भी ऐसा रिवाज था "It was the custom annually to impale a Young girl alive soon after the spring equinot in order to Secure good crops. A similar sacrifice is still annually offered at Benin."

बेचुवाना जाति कैं लोग भी अच्छी फसल के लोभ से नरबलि देते थे। हमारे देश भारतवर्ष में भी गोंड़ जाति के लोग किसी जमाने में भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाने के ध्येय से ब्राह्मण शिशुओं को चुरा लाते थे और भू-देवी के समक्ष विषाक्त तीर से उन्हें बिंधकर हत्या करते थे। आस्ट्रेलिया के असभ्य अधिवासी भी एक कन्या को जीवित दशा में ही जमीन में गाड़कर भू-देवी को प्रसन्न करते थे और उस कब्र के ऊपर समस्त गाँव के शस्य बीज टोकरी में भर कर रख जाते थे। उनको ऐसा विश्वास था कि यह लड़की देवी बनकर उन बीजों के भीतर प्रवेश करेगी और इसके फलस्वरूप फसल की पैदावार

अच्छी और परिपुष्ट होगी। प्राचीन मिस्र देश में भी "Sacrificed red-haired men to satisfy Corngod." साइबीरिया में भी ऐसी ही बलिप्रथा प्रचलित थी। इनमें से कुछ लोग अमेरिका के, कुछ अफ्रीका के, कुछ लोग एशिया के और कुछ लोग आस्ट्रेलिया के अधिवासी थे। भू-देवी की पूजा एक ही प्रकार की होती थी। यह सब देखने से मालूम होता है, कि ये सभी एक एकबार 'कान काटो' के देश में सारी बातें आकर सीख गये थे। किन्तु ये किस समय किस तरह आये, यह बात इतिहास में कहीं नहीं लिखी है। इस कारण मैं इस सम्बन्ध में कुछ नहीं बता सकता।

ठाकुर महाशय ने Encyclopaedia Britannica से उद्धृत करके कहा है—"कानानाइट लोगों के देश में Numerovs Jars with the Skeletons of infants प्राप्त हुए हैं, और we cannot doubt that the sacrficing of children was practised on a large scale among the Cananites." यह बात ठीक है। कानानाइट जाति के लोग शिशुबलि देकर कढ़ाह में आशेरा देवी को पूजा चढ़ाते थे, किन्तु उनको यह प्रमाण कहाँ मिला है कि,—खोन्द जाति के लोग भी शिशुबलि देकर भू-देवी को पूजा चढ़ाते थे? वे लोग भी शिशुहत्या करते थे यह बात सच है, किन्तु वह हत्या देवताओं के नैवेद्य के लिए नहीं होती थी। अधिकांश रूप में यह कृत्य दरिद्रता के भय से और विशेष रूप से भूत-प्रेत के आक्रमण से डर कर होता था। इसी कुसंस्कार से यह सब होता था। हत्या करने का ही अर्थ बलि देना नहीं होता। किन्तु कानानाइट लोगों के कढ़ाह (कंडाल) (Jars) के साथ केवल इतनी ही समता है कि 'कन्धकाटा' लोग भी बड़े-बड़े कंडालों को जल से भरकर उसमें शिशुओं को डुबो कर मार डालते थे। क्योंकि, और किसी तरह की हत्या करना वे विधिसङ्गत नहीं समझते

थे। मैंने कहीं यह बात जरूर पढ़ी है किन्तु ठीक स्मरण नहीं है, किन्तु मैं शायद कहीं जरूर ऐसा ही पढ़ चुका हूँ, कि किसी मनुष्य ने एक वृद्ध खोन्द से प्रश्न किया—"भाई, तुमलोग इतनी यन्त्रणा देकर शिशु का बध क्यों करते हो ? कोई दूसरा सहज उपाय उपयोग में क्यों नहीं लाते ?" उसने उत्तर में कहा—"इसके अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से मार डालना भयङ्कर 'पाप' है !" कडाह की समता बस इतनी ही है। इसको दस आना मान लें चाहे सोलह आना।

अतेन्द्र बाबू ने बायबिल की उक्ति उद्धृत कर कहा है—'शिशु-घातक कानानाइटों ने तो सबको ही विपत्ति में डाल दिया था' इत्यादि इत्यादि। किन्तु कलिङ्ग के खोन्द जाति के लोगों ने किसको इस तरह विपद में डाल दिया था, और किस दिन किसके लड़के लड़कियों को चोरी से लाकर देवी देवता को पूजा चढ़ायी थी, इसकी मुझे कोई जानकारी नहीं है। वे लोग भू-देवी को तुष्ट करने के लिए जिसकी बलि देते थे, उसको 'मिरिया' कहते थे, और यह 'मिरिया' चाहे नारी हो या पुरुष किन्तु पूर्ण यौवनावस्था को न पहुँचने तक नारी या पुरुष देवता को उत्सर्ग करने योग्य नहीं माना जा सकता था। वे लोग 'कानानाइट' लोगों की तरह लड़के चुरा ले आकर बलि नहीं देते थे। इसका एक बड़ा प्रमाण यह है कि, वे मरणासन्न 'मिरिया' के कानों में यह बात ऊँचे स्वर से आवृत्ति करते रहते थे कि, "तुमको हम मूल्य देकर खरीद लाये हैं। हमने कोई पाप नहीं किया है, हमारा कोई पाप नहीं है—हमारा कोई पाप नहीं है—हम निर्दोष हैं।" किन्तु कानानाइट लोगों के सम्बन्ध में क्या ऐसी किसी बात की आवृत्ति करने का नियम प्रचलित था ? ऐसा कदापि नहीं था।

अतेन्द्रबाबू ने स्वयं भी निबन्ध के एक स्थान में मैकफर्सन साहब की उक्ति उद्धृत कर दिखाया है कि खोन्द लोग, और जो कुछ भी चाहे रहे हों, किन्तु वे चोर-डाकू नहीं थे। इसके अतिरिक्त

'कानानाइट' लोगों के देवालयों में शिशुपञ्जर दिखाई पड़ने से ठाकुर महाशय के स्वपक्ष में साक्ष्य नहीं मिलता वरन् विपक्ष में ही मिलता है। उन्होंने लिखा है—"कानानाइट लोगों के देवालयों को खोदते-खोदते पुरातत्त्वानुसन्धानकारियों ने ऐसे वृहदाकार पात्रों को खोज निकाला है, जिनमें शिशुओं के वृहद् अस्थि पञ्जर प्राप्त हुए हैं। विद्वान्‌गण इनको देवता की तुष्टि के निमित्त शिशु बलिदान का निदर्शन स्वीकार करते हैं।" मैं भी यही स्वीकार करता हूँ। किन्तु यदि वे ज़रा भी ध्यानपूर्वक निरीक्षण करते तो समझ जाते कि, यदि इनके बलिदान के बच्चे भूमि की उर्वराशक्ति बढ़ाने के उद्देश्य से उत्सर्ग किये गये होते तो, उनके पूरे अस्थि पञ्जर पा जाने की बात तो दूर रही, उन्हें हड्डी का एक टुकड़ा भी नहीं प्राप्त होता। क्योंकि, पहले ही देख चुका हूँ, कि जिन लोगो ने भू-देवी को तुष्ट करने के निमित्त बलि दिये हैं, उन्होंने ही उस मृत शरीर को भूमि के साथ ही मिला दिया है। पुरातत्त्वानुसन्धानकारियों के लिए कंकाल में उसे संचित नहीं कर गये हैं। उड़ीसा के 'कन्दकाटा' लोगों ने भी ऐसा काम नहीं किया है। वे मृत देह को पहले टुकड़ों में काट डालते थे, और सब मिलकर आपस में बाँट लेते थे, फिर अपने-अपने खेतों में उन्हें गाड़ देते थे। यहाँ तक कि, जो कुछ नाड़ी अँतड़ी हड्डी इत्यादि जो कुछ भी बच रहती थी, उन्हें भी वे नहीं छोड़ते थे। उनको वे जला डालते थे, फिर उस जली हुई चीज को जल में घोल खेतों में छिड़क देते थे। इस प्रकार भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ाकर ही वे शान्त होते थे। इतनी बातें देवी के माहात्म्य और उनकी पूजा के सम्बन्ध में हुई। इसमें समता या असमता किस हद तक है, इसका विचार करने का भार पाठकों पर है।

ज्ञतेन्द्र बाबू ने इसके बाद द्वितीय एकता का प्रसङ्ग उठाया है। आप कहते हैं—"जो जिस स्थान में रहता है, उसके लिए

वही स्थान प्रिय होता है। उसकी बराबरी का प्रियस्थान उसकी दृष्टि में और क्या हो ही सकता है? ताड़ के वृक्ष कानकटा लोगों के निवास स्थान हैं। इस कारण ताड़ वृक्ष तो स्वभावतः ही इनके लिए प्रिय होगा। ताड़ वृक्ष के प्रति अपर्य्याप्त प्रेमभाव रखने का परिचय कानकटा जाति के इतिहास में भी कम नहीं मिलता। इसी प्रकार 'कानानाइट' जाति के लोगों में भी ताड़वृक्षों के प्रति कम प्रेमभाव का परिचय नहीं मिलता। वे लोग भी ताड़वृक्षों पर विशेष भक्ति-भाव रखते थे। ताड़जातीय वृक्ष इस जाति के लोगों को इतने प्रिय होते थे कि इस जाति की अन्यतम शाखा का नाम ही फिनीशीय पड़ गया। (इस शब्द की उत्पत्ति ताड़जातीय वृक्ष से हुई है। फिनीशीय शब्द की उत्पत्ति 'फइनिक' शब्द से हुई हैं, इसका अर्थ है 'ताड़वृक्षों का देश'—Phoenike signifies the land of Palms)"—यद्यपि "फइनस" अर्थात् लाल रङ्ग (Scarlet) से भी फिनीशिया हो जाना असम्भव नहीं है। जो भी हो, ऋतेन्द्र बाबू की यह युक्ति अच्छी तरह समझ में नहीं आयी। क्योंकि, देश में जो वृक्ष अच्छे हैं, उनको प्यार करने का अभ्यास देखकर आश्चर्य में पड़ने की कोई भी बात नहीं है। 'कन्दकाटा' लोगों के देश में बहुत से ताड़वृक्ष हैं। वे लोग मकान बनाते समय कड़ी धरन आदि में इसका प्रयोग करते हैं। इस वृक्ष की पत्तियों से छाजन बनाते हैं, चटाई बुनकर बिछावन तैयार करते हैं। उधर बायबिल वर्णित कानकटा जाति के लोग भी पाम (Palm) वृक्ष को बहुत पसन्द करते हैं। क्योंकि पाम उनके देश में अत्यन्त उपयोगी वृक्ष है, और वहाँ इस वृक्ष की संख्या भी अत्यधिक है। किन्तु इससे क्या प्रमाणित होता है? हमारे हुगली जिले में आम के वृक्ष बहुत हैं। इनके फल भी अच्छे होते हैं। लकड़ी भी अच्छी होती है। हम आम वृक्ष पसन्द करते हैं। बर्दवान जिले में

कटहल के पेड़ बहुत हैं। वहाँ के लोग कटहल बहुत खाते हैं। उन फलों पर स्नेहभाव भी रखते हैं—इसमें आश्चर्य में पड़ने की बात ही क्या है? किन्तु ऋतेन्द्र बाबू कहते हैं—"इसका कारण? दोनों की जातिगत एकता और दोनों की एक ही निवास भूमि ही इसका कारण है!" किन्तु ऐसा क्यों? देश में जो भी उपयोगी वृक्ष होते है उनको प्यार करना ही तो सङ्गत और स्वाभाविक भी है। वरन् यदि वे यह दिखा सकते कि किसी एक वृक्ष को प्यार करने का ठीक कारण दिखाई नहीं पड़ रहा है, तो भी दोनों ही जातियों के लोग उसे प्यार करते हैं, तो उस हालत में कोई और बात सोची भी जा सकती थी। उदाहरण में सेवड़ा वृक्ष की बात लीजिये। यदि यह दिखाया जाता कि ठाकुरबाड़ी के लोग भी इस वृक्ष पर श्रद्धा रखते हैं, और उड़ीसा के कानकाटा लोग भी रखते हैं तो उस हालत में इनकी एक जातीयता का सन्देह हो सकता था, किन्तु यहाँ तो ऐसा कुछ भी नहीं दिखाई पड़ता। और भी एक बात है। कलिङ्ग देश के 'कानकाटा' लोगों का 'पाम' ताड़वृक्ष है, किन्तु बायबिल वर्णित कानानाइट लोगों के देश का 'पाम' खजूर वृक्ष है, अंग्रेज दोनों को ही 'पाम' कहते हैं, किन्तु वास्तव में क्या दोनों एक ही हैं? फल का आकार-प्रकार भी तो भिन्नता रखता है। दोनों फलों का वजन भी तो समान नहीं होता। ताड़ का फल खजूर से कुछ बड़ा होता है। एक साथ रख देने से समानता नहीं मालूम होती, इस बात को शायद ऋतेन्द्र बाबू भी अस्वीकार न करेंगे। खाने में भी दोनों का स्वाद समान नहीं है। इसलिए, अंग्रेज लोग दोनों वृक्षों को जिस नाम से भी क्यों न पुकारें, वास्तव में वे एक नहीं हैं। एक है ताड़, दूसरा है खजूर।

अब चौथी एकता की बात लीजिये। ऋतेन्द्र बाबू कहते हैं—

"पाठक अब एक ऐसे विषय पर लक्ष्य करें, जिससे कलिङ्ग निवासी कानकाटा और बाइबिल वर्णित कानानाइट लोगों की समता प्रमाणित होती है। दोनों ही जातियाँ लाल रङ्ग को पसन्द करती हैं। चाहे स्त्री हो या पुरुष, उन्हें यदि कोई लाल रङ्ग का कपड़ा पहिनने को मिले तो वे दूसरे कपड़े नहीं चाहते। कलिङ्ग के लोग पक्का लाल-बैगनी रङ्ग तैयार करने में निपुण होते हैं। उधर कानानाइट लोग भी लाल रङ्ग पर रुचि रखते हैं। कानानाइट लोगों की अन्यतम शाखा फिनीशीय लोग कपड़े को घोर लाल रङ्ग से रँगने में इतनी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके थे कि बहुतों का यह अनुमान है कि 'फइनस' शब्द से ही उनको फिनीशिया नाम की उत्पत्ति हुई है।"

दोनों में बहुत अधिक एकता है, इसे मैं अस्वीकार नहीं कर सकता। किन्तु इस सम्बन्ध में मुझे कुछ कहना भी पड़ेगा। पहला बात यह है कि फिनीशीय लोग लाल रङ्ग के जो कपड़े तैयार करते थे, उन्हें वे अपने घरों में सञ्चित नहीं रखते थे। वे उन्हें देश-विदेश में बेच डालते थे। जो लोग दाम देकर खरीदते थे, वे भी लाल रङ्ग पसन्द करते थे, ऐसा अनुमान करना असङ्गत नहीं होगा। वस्तुतः उस समय के लोग लाल-रङ्ग का इतना आदर करते थे कि लाल-रङ्ग के व्यवसाय से ही फिनीशीय जाति की ऐश्वर्य वृद्धि हुई थी। जो जातियाँ देवताओं को बलिदान देकर पूजा चढ़ाती थीं, देवता को रक्तपान कराती थीं, वे सभी लाल-रङ्ग का व्यवहार करना पसन्द करती थीं। वे किसलिए पसन्द करती थीं, किसलिए देव-देवियों को लाल-रङ्ग के कपड़े पहनाती थीं, किसलिए लाल फूल और लाल चन्दन से देवता को सन्तुष्ट करना चाहती थीं, इसकी आलोचना करने लगें तो यह विषय बहुत बढ़ जायगा। इस निबन्ध में इसके लिए स्थान नहीं है और

ऐसी कोई आवश्यकता भी नहीं है। केवल यही स्थूल बात कहकर मैं चुप हो जाना चाहता हूँ कि केवल ये ही दोनों जातियाँ घोर लाल-रङ्ग पसन्द नहीं करती थीं, उस जमाने के बारह आना लोग ही ऐसे थे जो लाल-रङ्ग पर प्रेम रखते थे।

इसके बाद रङ्ग तैयार करने की बात उठती है। बहुत सम्भव है, फिनीशीय लोगों ने यह विद्या 'कानकाटा' लोगों से न सीखी हो, और कानकाटा लोगों ने भी फिनीशीयों से इसे न सीखी हो। कानकाटा लोग अर्थात् कलिङ्ग निवासी खोन्द जाति के लोग वृक्षों का रस और तृणमूल से रङ्ग तैयार करते थे। किन्तु फिनीशीय लोग मुरे-मछली (Murex-purple shell fish) का माँस पका कर रङ्ग तैयार करते थे। इस कारण यदि रङ्गने की विद्या एक साथ अर्जित हुई होती, तो उस हालत में एक ही पद्धति होनी चाहिये थी। इस जाति की मछली कान काटा लोगों के देश में भी कम नहीं मिलती। और लाल रङ्ग को पसन्द करने की आदत क्या एक तुलनीय विद्या है? दोनों जातियों के शारीरिक गठन और उनके चेहरे में समता थी या नहीं, इस सम्बन्ध में कोई चर्चा ही नहीं हुई है। चर्चा यह उठी कि, दोनों जातियाँ ही लाल रंग पसन्द करती थीं। इस तरह की एकता और भी है। दोनों ही जातियाँ आँखें बन्द कर सोना पसन्द करती थीं, हाथ खाली रहने पर हाथ झुलाकर चलना पसन्द करती थीं,—इन सब एकताओं का उल्लेख भी आपने क्यों नहीं किया।

पाँचवीं एकता 'नाम' के सम्बन्ध में दिखायी गयी है। यह तो सबसे सुन्दर है। आप कहते हैं—"कानानाइट वंशीय जो मनुष्य इसराइल राज के डेविड का शरीर-रक्षक था, उसका नाम था उड़िया (Uriha) और यह उड़िया नाम कहीं से उड़कर नहीं आया है। क्योंकि, उस युग में सभी यह बात जानते थे कि, कानानाइट लोग

कलिङ्ग देश के मूल निवासी हैं। इसी लिए, जैसे किसी के घर में यदि नेपाली या भोटिया भृत्य रहता है तो, उसे घर के लोग असल नाम से न पुकार कर प्रायः नेपाली या भोटिया नाम से ही पुकारते हैं। इस विषय में भी वही बात हुई है। उड़् शब्द से उड़िया की उत्पत्ति हुई है। इसराइली भाषा में चाहे देश का नाम हो, या मनुष्य का नाम हो, उसके साथ 'इया' शब्द अन्त में जोड़ने की प्रथा अत्यन्त अधिक है। जैसे—जोसिया, जेडेकिया, हेजेकिया, सिरिया इत्यादि।"

ठीक है, इसी कारण उड़ शब्द के अन्त में 'इया' शब्द जोड़ देने से इसराइली भाषा में 'उड़िया' बन गया है। लड़कपन में मैं भी (चार्ल्स डिकेन्स रचित) 'डेविड कापर फील्ड' नामक उपन्यास पढ़ रहा था, तो उसमें जिस उड़िया का नाम है, उसे उड़िया ही समझने लगता था। तब मेरे मन में यह प्रश्न उठता था कि यह मनुष्य विलायत कैसे चला गया? अब समझ में आ रहा है कि वह कैसे चला गया था? और यह भी सोच रहा हूँ कि, स्कैण्डीनेविया, बटेविया, साइबीरिया आदि नाम भी सम्भवतः इसी प्रकार से बने हैं। क्योंकि, ये सब भी एक शब्द हैं या नहीं, इसमें घोर सन्देह है। इसलिए जिस तरह 'उड़िया' एक शब्द नहीं है, "वह उड़्+इया" है, यह जैसे असन्दिग्ध रूप से निर्धारित हो गया, वैसे ही यह बात भी सर्व सम्मत रूप से निश्चिति हो गयी कि, कानानाइट लोग उड़् देशवासी हैं। किन्तु, एक तुच्छ बात यह है कि, उस उड़िया नामक व्यक्ति के अतिरिक्त और भी "उड़िया" कानानाइट वहाँ थे। इसराइली लोगों की तरह बहुत दिनों तक बहुत प्रकार से ही उनका उल्लेख हुआ। लड़ाइयों में, ब्याह शादियों में, आनन्द और निरानन्द में बायबिल ग्रन्थ में उनके नामों का उल्लेख अनेकों बार हुआ है, किन्तु यही ऐसे आश्चर्य की बात

है कि गउके किसी भी स्वदेशी को 'उड़िया' कहकर आदर करने की बात मैंने कभी नहीं सुनी। सम्भवतः इसराइल-राज डेविड का निषेध था। इस सम्बन्ध में हम कुछ अधिक नहीं कह सकते। ऐसा हो भी सकता है।

छठी एकता का उदाहरण देकर ठाकुर महाशय कहते हैं—"राजा डेविड ने जिस उड्रूसन्तान कानानाइट को अपना शरीर रक्षक-प्रहरी-पद प्रदान किया था, शायद उसके जातिगत गुणों को देखकर ही ऐसा किया था। वर्तमान काल में उस कानानाइट जाति का अस्तित्व लुप्त तो अवश्य हो गया है, किन्तु उसी वंश के 'कन्दकाटा' लोग अब भी भारत के कलिङ्ग या उड्रूदेश में विद्यमान हैं। इन कन्दकाटा लोगों का शारीरिक गठन देखने से ही यह बात समझ में आ जाती है कि ये लोग वास्तव में शरीर-रक्षक-पद पर नियुक्त होने योग्य थे। केवल यही बात नहीं। राज-प्रहरी के लिए जिन गुणों का रहना आवश्यक है, वे सभी गुण उनकी जाति के साधारण धर्म रूप में गणनीय थी। कप्तान मैकफर्सन ने लिखा है—'झूठ बोलने, प्रतिज्ञा भङ्ग करने और गुप्त बातों को प्रकट करने को 'कन्द' लोग अधर्म मानते हैं, और वीरत्व भाव से युद्ध में प्राण त्याग करने और युद्ध में शत्रुओं का नाश करने को अधर्म मानते हैं।" अच्छी बात है। इसीलिए मैं भी पहले कह चुका हूँ कि खोन्द लोग कानानाइट लोगों की तरह दूसरों के लड़कों को चुराकर बलि नहीं चढ़ाते थे। किन्तु, क्या खोन्द लोग ही कानानाइट लोगों के समवंशीय हैं, फिनीशीय लोग नहीं हैं? ऋतेन्द्र बाबू ने भी इसके पहले दिखाया है, और मैंने भी इसका प्रतिवाद नहीं किया है कि कानानाइट लोग फिनीशीय लोगों की उपशाखा मात्र हैं। और इसी कारण उन्होंने लाल-रङ्ग पर रुचि, लाल-रङ्ग तैयार करने की दक्षता, ताड़ और खजूर वृक्षों पर स्नेह, 'फाइनस' शब्द इत्यादि

का प्रसङ्ग उठाकर फिनीशीय लोगों के साथ अभिन्नता प्रमाणित करने की चेष्टा की है। वस्तुतः फिनीशीय और कानानाइट में अन्तर नहीं है। निबन्ध के अन्त में उन्होंने स्वयं भी स्पष्ट करते हुए कहा है—"फिनीशीय लोग कानानाइट जाति की अन्यतम शाखा हैं।" किन्तु इन फिनीशीय लोगों का नैतिक चरित्र कैसा है? स्कूल के लड़कों को भी यह जानकारी है कि फिनीशीय लोग चोरी, डकैती, विश्वासघात, नर-हत्या आदि सभी प्रकार के पापों में ही सिद्ध-हस्त थे। ये लोग व्यापार-रोजगार करने के लिए विदेशों में जाते थे और अपनी नावों या जहाजों को कहीं छिपा रखते थे। फिर अपना माल-असबाब विदेशी खरीदारों के सामने रख देते थे। फिर जब वे लोग असन्दिग्ध चित्त से खरीदने-बेचने में निमग्न हो रहते, तब सुविधा मिलते ही ये फिनीशीय डाकू-बनिये उनके ऊपर आक्रमण कर देते थे, और जिसे पकड़ पाते, उसे पकड़ कर अपने जहाज में ले जाते और पाल उड़कर रवाना हो जाते। इन्हीं लोगों को वे अन्य स्थानों में गुलाम के रूप में बेचकर अर्थोपार्जन करते थे। वास्तव में, कोई भी अन्याय, अधर्म, निष्ठुरता, पापाचरण ऐसा नहीं था, जिसे ये फिनीशीय लोग न करते रहे हों। दिन में जो लोग अतिथि बनते थे, रात को उनके ही गले पर वे लोग छुरा भोंक देते थे। ये सभी बातें इतिहास द्वारा प्रमाणित हैं। अनुमान या कल्पना द्वारा सम्भूत नहीं है। ऐसी ही जाति के समवंशीय होते हुए भी, उड़ीसा के 'कन्दकाटा' लोग इतने बड़े धार्मिक कैसे हो गये? और ये फिनीशीय शरीर-रक्षक उड़िया लोग युधिष्ठिर की भाँति धर्मात्मा कैसे हो गये? यदि ज्ञतेन्द्र बाबू इतनी-सी भी वैज्ञानिक पद्धति अवलम्बन करते तो उस अवस्था में उन्हें यही दिखाई पड़ता कि फिनीशीय अथवा कानानाइट लोग यदि उड़ीसा की खोन्द जाति के ही अन्तर्गत होते, तो दोनों

जातियों के नैतिक चरित्र में इतना आकाश-पाताल का अन्तर न होता।

इन समताओं को दिखाकर ऋतेन्द्र बाबू ने रथ का प्रसङ्ग उठा कर कहा है—"इसराइल राजा सोलोमन ने जिन विषयों में कलिङ्ग वासियों का अनुसरण किया था, उनमें रथ और मन्दिरादि निर्माण ही प्रधान उल्लेखनीय हैं।....कलिङ्ग देशवासी सदा से ही रथ के आडम्बर के प्रति आकर्षित रहते हैं, रथ की धूमधाम, ठाट-बाट, कलिङ्ग देश में सर्वत्र है।...सोलोमन ने एक हजार चार सौ रथ बनवाये थे।" इतनी अधिक संख्या में रथ नहीं बने थे, यह बात कोई नहीं कहता। राजा सोलोमन ने बहुत से रथ युद्धार्थ बनवाये थे। ऋतेन्द्र बाबू कहते हैं कि, कलिङ्गवासियों ने ही रथ निर्माण किया था। यह बात हो भी सकती है, और नहीं भी हो सकती। हो सकती है इसलिए कि, ठाकुर महाशय को दृढ़ विश्वास हो गया है कि, फिनीशीय लोग उड़ीसा के अधिवासी हैं। उड़ीसा में जगन्नाथ जी का रथ है, इसलिए उड़िया लोगों ने ही सोलोमन का रथ बनाया था। मुझे इस पर इस कारण विश्वास नहीं होता कि, प्रथमतः फिनीशीय लोग उड़िया नहीं हैं। इसके सिवा, रथ बनाने वाले मनुष्य और भी अनेक हैं। सोलोमन के समय में अर्थात् ईसा-मसीह के एक हजार वर्ष पूर्व कलिङ्ग में रथों की धूमधाम कैसी थी, और कलिंग वासी कैसा रथ बना सकते थे, इसकी जानकारी मुझे नहीं है। दूसरा कारण यह है कि, राजा सोलोमन के पड़ोसी मिस्र-वासी बहुत पूर्वकाल से सुन्दर और सुदृढ़ रथ बनाने की कला में प्रसिद्ध हो चुके थे। वे लोग कैसे रथों का निर्माण करते थे, वे कितने प्रकार के थे, किस वृक्ष के काठ चाके से तैयार करते थे, सारथियों को कौन-कौन सी जागीरें दी जाती थीं, रथ चलाने की कला का जिम-नास्टिक की तरह कैसे वे विधिवत् अभ्यास करते थे, इत्यादि बहुत सी

बातें मैं बाल्यकाल में मिश्र देश के इतिहास में पढ़ चुका हूँ। आज वे याद नहीं हैं। याद रखने की आवश्यकता भी तब मैंने नहीं देखी थी। किन्तु इस बात की याद मुझे है कि, प्राचीन मिस्री लोग बहुत ही सुन्दर रथ बनाते थे। और मुझे यह बात भी याद पड़ रही है कि, कुछ दिनों पूर्व Struggle of the Nations पुस्तक के दूसरे या तीसरे अध्याय में मैंने पढ़ा था, कि एक एसीरीय नरपति ने फाराव (मिस्र के नरेश) से युद्ध में पराजित होकर यह कहकर दुःख प्रकट किया था कि,—"यदि उनलोगों की तरह युद्धोपयोगी रथ मेरे पास भी होते तो मेरी यह दुर्दशा न होती।" सारांश यह कि, उस युग के मनुष्य रथों की उपयोगिता समझते थे और सोलोमन की तरह बुद्धिमान और भुवन विख्यात नरपति भी इसे समझ गये थे, और इसीलिए उन्होंने इतनी अधिक संख्या में रथ बनवाये थे। किन्तु प्रश्न यह है कि रथ बनाने वाले कौन थे? उड़ीसा के लोग थे या मिस्र देश के निवासी?

बायबिल में लिखा है कि राजा सोलोमन ने मिस्र देश की राजकुमारी से विवाह किया था, और इस विवाह द्वारा वे मिस्र के साथ आत्मीयता के बन्धन में आबद्ध हो गये थे। "(1. Kings—3-1. and Soloman made affinity with Pharaoh king of Egypt and took Pharaoh's daughter etc.)" ऐसी अवस्था में किस तरह असन्दिग्ध रूप से स्थिर किया जा सकता है कि उक्त नरपति के रथों का निर्माण सम्बन्धी और पड़ोसी मिस्र-वासियों ने नहीं किया था, कलिंग वासियों के स्वजातीय कानानाइट लोगों ने किया था।

इसके बाद ज्ञानेन्द्र बाबू ने एक और प्रमाण दिया है। आप कहते हैं—राजा सोलोमन द्वारा प्रतिष्ठित नगर का नाम 'ताड्मर' है—यह है संस्कृत मूलक कलिंग नाम। अर्थात् 'ताल' या

'ताड़' एक ही बात है।" ऐसा हो भी सकता है। क्योंकि र-ल-ड के प्रभाव से 'आशेरा' से 'ताड़ी' बन जाना बताया जा चुका है। अब यदि 'ताल' को 'ताड़' बना देने में आपत्ति उठाऊँ, तो लोग मेरी ही निन्दा करेंगे। किन्तु मैं पूछता हूँ कि वह शब्द क्या कलिंग के अतिरिक्त अन्य किसी भी उपाय से इसराइली भाषा में प्रवेश नहीं कर सकता? अच्छा, मान भी लिया जाय कि, 'ताल' से 'ताड़' बन गया, किन्तु 'मर' क्या चीज है? जो भी हो, 'ताड़मर' के सम्बन्ध में मेरी जानकारी कुछ भी नहीं है। इस कारण इसका विचार भाषविद् लोग ही करेंगे—मैं चुप हो रहता हूँ।

मैं भाषा की विशेष जानकारी नहीं रखता। सम्भव है, मेरी बातें सुव्यवस्थित रीति से नहीं कहीं गयी हों। तो भी, मुझे यही आशा है कि इन तुच्छ प्रतिवादों के प्रति यदि ठाकुर महाशय का ध्यान आकर्षित हो जाय, तो अपने गुणों से मेरी त्रुटियों को क्षमा-प्रदान करेंगे, और ऐसी व्यवस्था भी कृपापूर्वक कर देंगे कि भविष्य में पुनः ऐसी त्रुटि न होने पावे।